ॐ

वन्दे विश्वेश्वरं विभुम्

(श्रीमदाचार्य-भगवत्पाद-जगद्गुरु श्रीशङ्कर-स्वामी-प्रणीत अनेकविधस्तोत्र एवं ग्रन्थसंक्षेप संग्रहरूपा)

श्रीशंकरसूक्तिसुधा

शङ्कराचलसम्भूता, ब्रह्मसागरगामिनी ।
इयं सूक्तिसुधा-गंगा पुनाति भुवनत्रयम् ॥

सानुवाद सम्पादक

स्वामी महेश्वरानन्द मण्डलेश्वर



प्रकाशक

मोहमयी निवासी—भक्तमण्डल

प्रयाग कुम्भ के उपलक्ष्यमें मुमुक्षु

महात्माओंके लिए अमूल्य—वितरण.

मुद्रक स्थळः—भगवती प्रीं. प्रेस, दाणाबंदर टे. नं. ३१८२२.

अद्वैताचार्याभिनातितातिः

...ता।यत... ...नीरविवेकिनम् ।
नमामि भगवत्पाद परहंसधुरंधरम् ॥
भगवत्पादपादाब्ज-द्वन्द्वं द्वन्द्वनिबर्हणम् ।
सुरेश्वरादिसद्भृङ्गैरवलम्बितमाभजे ॥
पद्मपादो विश्वरूपो हस्तामलतोटकौ ।
अद्वैतदीक्षागुरवः, साचार्याःपञ्चपान्तुमाम् ॥
उद्धृत्य वेदपयसः कमलामिवाब्धे-
रालिङ्गिताखिलजगत्प्रभवैकमूर्तिम् ।
विद्यामशेषजगतां सुखदामदाद्य—
स्तं शङ्करं विमलभाष्यकृतं नमामि ॥
नमाम्यभोगिपरिवारसम्पदं,
निरस्तभूतिमनुमार्धविग्रहम् ।
अनुग्रमुन्मृदितकाललाञ्छनं,
विना विनायकमपूर्वशङ्करम् ॥
श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान्,
वेदान्तशास्त्र सुनिबन्धकृतस्तथान्यान् ।
विद्याप्रदानिह यतिप्रवरान्दयालून्,
सर्वान् गुरून् सततमेव नमामि भक्त्या ॥

श्रीहरिर्जयति

श्रीशंकरसूक्तिसुधा

महेश्वरपरावतार-भगवत्पूज्यपाद-अखण्डभूमण्डलाचार्य-
जगद्गुरु-प्रस्थानत्रयीभाष्यकार-श्रीशङ्करस्वामि-प्रणीत
विविधस्तोत्र-संक्षिप्तग्रन्थसंग्रहात्मिका
वैदिक-शान्तिपाठ, श्रीमदाचार्यसंक्षिप्त-
जीवनचरित, हिन्दी-अनुवादसमन्विता,

एतस्याः

सानुवादसम्पादकाः
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-दार्शनिकसार्वभौम-विद्यावारिधि
न्यायमार्तण्ड-वेदान्तवागीश-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठस्वामि-
महेश्वरानन्दगिरि-मण्डलेश्वर-महोदयाः

सा च

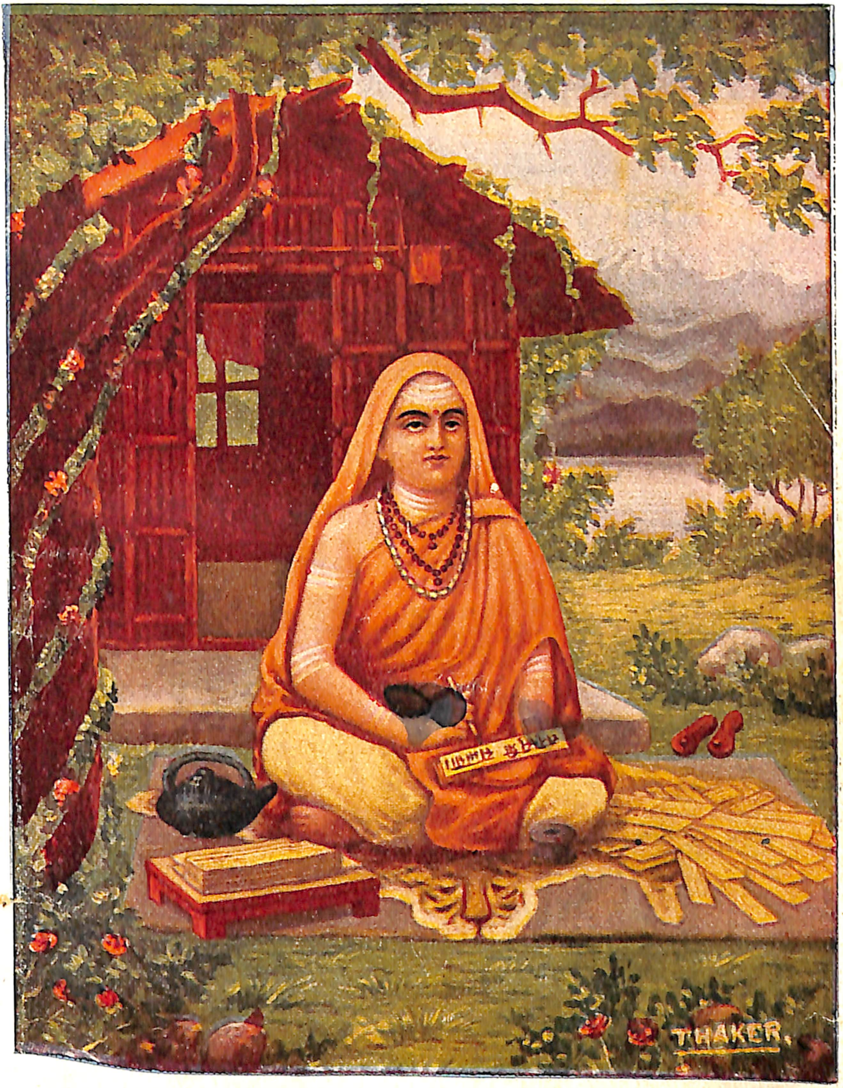
प्रयागकुम्भमहोत्सववेलायां त्रिवेणीस्नानसत्संगादिपुण्य-
लाभसमवाप्तये समुपस्थितानां मुमुक्षूणां परिव्राज-
कादिमहात्मनां सेवायां समुपस्थाप्यते.

मूल्यं सदुपयोगः

अनुक्रमणिका

महेश्वर–परावतार–आचार्य–प्रवर जगद्गुरु भगवत्पाद

प्रस्थानत्रयीभाष्यकार १००८ श्रीशङ्करस्वामीजी महाराज



प्रचण्डपाखण्डविखण्डनोद्यतं त्रयीशिरोऽर्थप्रतिपादने रतम् ।
बुधैर्नुतं योगकलाभिरावृतं, नमामि तं श्रीगुरुशङ्करार्यम् ॥

Bhagvati, P.

प्राक्कथन

शिष्यं मां सद्गुरुः, साक्षात् स्वस्वरूपं चकार हि ।
श्रवणादिभिरुत्पाद्य, ज्ञानं भ्रमरकीटवत् ॥
सद्गुरुकृपया प्रोक्तं, स्वस्वरूपं भजाम्यहम् ।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा सदा साधुसमागमम् ॥

दक्षिणकी रामेश्वर कन्याकुमारी प्रभृति की यात्रा करके मण्डलेश्वर महाराज सहित मण्डलीके सभी महात्मा आषाढी पूर्णिमाके कुछ रोज आगे बेंगलूरसे बंबई पहुँचे। अत एव बंबईका ही चातुर्मास होना निश्चित हो गया। बंबई, भूलेश्वर, श्रीमती नर्मदाबाईकी भगतवाडीमें मण्डलेश्वर महाराज का गीता प्रवचन भी प्रारम्भ हुआ। भावुक-सत्संगी भाई माई सब सत्संगका लाभ लेने लगे। मेरे हृदयमें अकस्मात् संकल्प उठा कि-आचार्य श्री शङ्करस्वामीजी प्रणीत-अनेकविध भक्ति वैराग्यादि-वर्धक स्तोत्र एवं वेदान्तके छोटे बड़े ग्रन्थोंका संक्षिप्त सारभूत श्लोकसंग्रह हिन्दी अनुवाद सहित प्रयाग कुम्भमें मुमुक्षु महात्माओं की सेवामें अमूल्य वितरण हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। मैंने अपना संकल्प पूज्यपाद श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुदेवश्री मकारादिदकारान्तपदाभिधेय मण्डलेश्वर महाराजजीको निवेदन किया। मण्डलेश्वर महाराजने आशीर्वाद दिया-विश्वनाथ तुम्हारा शुभ संकल्प पूर्ण करे। पश्चात् भगवद्भक्ता श्रीमती राधाबाई तथा श्रीमती बच्चीबाई को मैंने अपना संकल्प कहा।

इन देवियोंने इस धार्मिक-कार्यके लिये बड़े उत्साहके साथ अन्य भावुक भक्ता श्रीमती मोतीबाई, श्रीमती कुंकुमबाई, श्रीमती काशी-बाई, श्रीमती लीलाबाई, श्रीमती जडावबाई श्रीमती धनगवरी आदि देवियोंको भी सहायताके लिये प्रेरणाकर सहयोग दिया एवं दिलाया। जिससे मण्डलेश्वर महाराज की कृपासे तथा इन देवियोंकी सहायतासे इस 'शङ्करसूक्तिसुधा' ग्रन्थकी छपाई 'भगवतीप्रेस दाणा बंदरमें' प्रारम्भ हो गई। प्रेसके अध्यक्ष भी बड़े धार्मिक भावुक भक्त होनेसे पुस्तककी छपाइ भी सभी प्रकारसे सुन्दर एवं सस्ती हुई। इस ग्रन्थके छपानेमें सहायता देनेवाली सभी हरि-गुरुभक्ता देवियोंकी मैं लोकलीलासूत्रधार भगवान् श्रीविश्वनाथजीसे तथा साक्षात् श्रीविश्वनाथ स्वरूप श्री सद्गुरुदेवसे ऐहलौकिक पारलौकिक पारमार्थिक सुखसम्पत्ति समुन्नति मनाता हूँ। रामेश्वरानन्द ब्रह्मचारी.

बम्बई
आश्विन
विजयादशमी
रविवार

देहेन्द्रियमनोबुद्धि-प्रकृतिभ्यो विलक्षणम्।
सच्चिदानन्दमद्वैतं परं ब्रह्मास्मि केवलम्॥
दर्शनं श्रवणं ज्ञानं यत्र नान्यस्य विद्यते।
अखण्डैकरसं शान्तं ब्रह्म तत्समुपास्महे॥
नित्यं निरन्तरानन्दं चिद्घनं ब्रह्म निर्भयम्।
श्रुत्या तर्कानुभूतिभ्या-महमस्म्यद्वयं सदा॥

पूर्णं ब्रह्म गुरुः पूर्णं पूर्णोऽहमखिलं जगत्।
पूर्णं सर्वमिदं ज्ञात्वा पुनरावर्तते कुतः॥

यत्पादरेणुसम्पर्काद्विशुद्धयन्ति मुमुक्षवः ।
अपरं दक्षिणामूर्तिं श्रीगिरीशं यतिं भजे ॥



आनन्दामृतपूर्णाय विध्वस्तध्वान्तमूर्तये ।
श्रीगिरीशयतीन्द्राय गुरवे करवै नमः ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-श्री १०८
महत्पदाभिधेय स्वामी श्री गिरीशानन्दजी महाराज

श्रीमज्जयेन्द्रपादाब्ज-परागाः पान्तु पावनाः ।
निस्तमस्कसदानन्द—साक्षात्करणहेतवः ॥



श्रीपारिव्राज्यसाम्राज्य-लक्ष्मीलालितमूर्तये ।
श्रीजयेन्द्रयतीन्द्राय गुरवे करवै नमः ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-
अद्वैत-ब्रह्मविद्यामार्तण्ड श्री १०८

स्वामी श्री जयेन्द्रपुरीजी महाराज महामण्डलेश्वर

महेश्वर-परावतार आचार्य श्रीशङ्करस्वामीजीका संक्षिप्त-जीवन-चरित्र

भगवत्पादपादाब्ज-द्वन्द्वं द्वन्द्वनिबर्हणम् ।
सुरेश्वरादिसद्भृङ्ग-रवलम्बितमाभजे ॥

जगद्गुरु भगवान् आचार्य श्रीशङ्करस्वामीजीका प्रातःस्मरणीय नाम, प्रकाण्डपाण्डित्य, योगसिद्धि, ब्रह्मनिष्ठा एवं महनीय विपुल-कीर्ति, अद्भुतचरित्र, आदि आज भी किसीसे छिपा नहीं है । आप साक्षात् देवाधिदेव कैलासवासी भगवान् श्रीशङ्करके पूर्णावतार हैं, समस्त जगत्के गुरु एवं दशनामसंन्यासियोंके प्रधान आचार्य हैं, आपके आदर्श जीवनकी अलौकिकताको देखकर इस बातमें लेश भी सन्देह नहीं रह सकता ।

वैदिक-धर्मकी नौका बौद्ध-कापालिक आदि नास्तिक-सागरमें डूबती हुई देखकर कैलासवासी भगवान् महादेवका अचल सिंहासन भी डोल उठा । तत्काल ही अनेक आक्रमणोंके अन्धकारमें विद्युत् की तरह देदीप्यमान होकर भगवान् शङ्कर, दक्षिण देशके सुरम्य केरल प्रदेशके अन्तर्गत कालटी नामक ग्राममें वेदशास्त्र-पारङ्गत, शिवभक्त, धर्मनिष्ठ 'शिवगुरु' नामक ब्राह्मणके गृहमें 'सती देवी' के गर्भसे अवतीर्ण हुए ।

आप एक वर्षकी आयुमें अपनी मातृ-भाषा संस्कृतमें बातचीत करने लगे थे, दो वर्षकी आयुमें माताकी शिक्षासे समग्र पुराण एवं महाभारत आदि इतिहासोंको कण्ठस्थ करने लगे थे, एवं पांच वर्षकी आयुमें उपनयन धारणकर गुरुके पास वेदादि शास्त्रोंको पढ़ने के

लिये गये थे। छात्रावस्थामें ही आपने एक दरिद्री ब्राह्मणीके गृहको सुवर्णके आमलोंसे भर दिया था, जिसने भिक्षाके लिये आपको अपना सर्वस्व एक आमलाको बड़ी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दिया था, जिसका यह प्रत्यक्ष फल था।

आप दो वर्षमें ही समस्त वेदशास्त्रोंका अध्ययनकर प्रकाण्ड पण्डित हो गयेथे, और अनेक छात्रोंको विद्या पढ़ातेथे। केरल देशके राजाने आपकी महनीय-कीर्ति सुनकर मन्त्रीके द्वारा बहुत धन भेंट कर आपको अपनी भसामें बुलाना चाहा, परन्तु जब आपने सब धन वापिस करदिया, और वहाँ नहीं गये, तब राजा स्वयं आपके समीप आकर शिष्य बन गयाथा।

आपने आठ वर्षकी आयुमें ही संन्यास लेनेका विचार किया, और मातासे आज्ञा माँगी, परन्तु पुत्र-वत्सला माताने आज्ञा नहीं दी। आखिर आप एक दिन माताके साथ समीपकी पूर्णा नदीमें स्नान करने गये, और वहाँ आपने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे माताको विचित्र दृश्य दिखाया, कि-एक ग्राह (मकर) आपके पैरको पकड़कर गहरे पानीमें खींच रहा है, और आप पानीमें डूबने लगे हैं। उस समय आपने मातासे कहा कि—हे माता! यदि तुम मुझे संन्यासी होनेकी आज्ञा देदो तो इस भयङ्कर ग्राहसे मुक्त होकर मैं बच सकता हूँ। जब पुत्र-प्राणार्त माताने अपने प्यारे इकलौते पुत्रकी आकस्मिक मृत्युके भयसे तत्काल ही संन्यासकी आज्ञा दे दी, तब आपने अपनी लीला सम्वरण करली। तटके ऊपर आकर आपने माताको उपदेश दिया, वह यह है—

प्रबलानिलवेगवेल्लित-ध्वजचीनांशुककोटिचञ्चले ।
अपि मूढमतिः कलेवरे, कुरुते कः स्थिरबुद्धिमम्बिके ॥
कति नाम सुता न लालिताः, कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि ।
क्वनु ते क्व च ताः क्व वा वयं, भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः ॥
भ्रमतां भववर्त्मनि भ्रमा, न्नहि किञ्चित्सुखमम्ब ! लक्षये ।
तदवाप्य चतुर्थमाश्रमं, प्रयतिष्ये भवबन्धमुक्तये ॥

इस प्रकार आपने माताको उपदेश देकर, एवं उसके योगक्षेम का प्रबन्धकर, उनसे बिदाली, और नर्मदातटनिवासी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ श्रीगोविन्दभगवत्पादाचार्यजीके समीप जाकर संन्यासदीक्षा लेली, गुरुदेवने आपका नाम श्रीशङ्करभगवत्पाद रक्खा ।

कुछ समय आप श्रीगुरुदेवकी सेवामें रहकर एवं गुरुसे बतलाई हुई योगसाधनाको कर, पूर्ण सिद्धयोगी होगये । एक दिन जब गुरुदेव समाधिमें थे, तब बड़े जोरोंकी बर्षा होनेके कारण नर्मदामें पानीकी महतीबाढ़ आयी । नर्मदातटके लोगोंके गृह तथा आश्रम भी पानीसे घिर गया, लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगे, उस समय दयालु शङ्कर स्वामीने लोगोंके दुःख मिटानेके लिये छोटेसे कमण्डलुमें सारे पानीको भर लिया । जब गुरुदेव समाधिसे उठे, तब आपका दिव्य-प्रभाव देखकर बड़े प्रसन्न हुए । गुरुदेवने योग-दृष्टिसे गौरकर देखा कि—'अहो साक्षात् भगवान् महादेव ही अवतार लेकर मेरे शिष्य बने हैं' । गुरुदेव भगवान् श्रीशङ्करकी बार-बार प्रशंसा कर अपनेको धन्य समझने लगे ।

गुरुदेवकी आज्ञासे आपने ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) के ऊपर अद्वैत शारीरिक-भाष्यकी रचना की, पश्चात् आप अपने अवतार कार्य करनेके लिये विश्वनाथपुरी श्रीकाशीजी पधारे, और वहाँ वैदिक-धर्मके विरोधियोंको हराकर वैदिक अद्वैत-सिद्धान्तका प्रचुर-प्रचार किया, जो आज भी वह सिद्धान्त श्रीकाशीजीमें अक्षुण्णरूपसे विद्यमान है। कहते हैं, साक्षात् विश्वेश्वर भगवान् विश्वनाथ चाण्डाल वेषमें आपके सामने प्रकट हुए, और आपसे वादविवाद किया। चाण्डालके अद्वैत शास्त्रार्थसे चकित होकर आपने योगदृष्टिसे साक्षात् भगवान् विश्वनाथको चाण्डालके रूपमें सामने देख वन्दना की। काशीमें विशेष करके भगवान् विश्वनाथ साक्षात् मूर्तिमान् होकर विराजते हैं। भगवान् विश्वनाथने अपने असली स्वरूपका दर्शन देकर समस्त भारतवर्षमें वैदिक-धर्मके प्रचारकी आज्ञा दी।

इसी तरह विष्णुके अवतार भगवान् वेदव्यासने आपके सामने ब्राह्मणके रूपमें प्रकट होकर आपसे शास्त्रार्थ किया, पश्चात् जब आपने योगदृष्टिसे व्यासदेवको पहिचानकर उनकी स्तुति की और स्वरचित ब्रह्मसूत्र-भाष्यको दिखाया, तब व्यासदेवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए, और कहने लगे कि—साक्षात् शङ्कर महादेवके बिना मेरे गूढ़ सूत्रोंके वास्तविक आशयको और कोई भी नहीं जान सकता है; क्योंकि ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर ये तीनों देवता समान कोटिके हैं, उन्हींको समान ऐश्वर्य, समान-शक्ति एवं समान-ज्ञान हैं, अतः इस प्रकारका यथार्थ भाष्य बनानेवाले आप साक्षात् महादेवके अवतार श्रीशङ्कर हैं। पश्चात् व्यासदेवजीने इस अद्वैतभाष्यका प्रचार करनेकी

आज्ञा दी, और आपकी आयु १६ वर्षसे ३२ वर्ष पर्यन्त होनेका वरदान देकर अन्तर्ध्यान होगए।

तत्पश्चात् आपने तमाम भारतवर्षके कोने-कोनेमें भ्रमणकर नास्तिक मतोंका खण्डनकर वैदिक अद्वैत सिद्धान्तका प्रचार किया और चारों कोनोंमें चार विभिन्न मठ स्थापन किये, एवं काशी-काञ्ची आदि स्थलोंमें भी मठोंकी स्थापना की।

कुछ समय आप बदरिकाश्रमके ज्योतिर्मठमें रहे, वहाँ आपने परमविरक्त शुकदेव मुनिके शिष्य, अपने गुरुदेवके गुरु भगवान् गौड़पादाचार्यजीके दर्शन किये। उन्होंने आपको माण्डूक्योपनिषद्के ऊपर स्वरचित कारिकाएँ दी। उनकी आज्ञासे आपने ईश, केन आदि दश उपनिषद्, गौड़पादकारिका तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर अद्वैतभाष्य लिखे। तथा विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य आदि भाष्य एवं उपदेशसाहस्री विवेक-चूड़ामणि आदि अन्य ग्रन्थ तथा कितने ही रोचक स्तोत्र रचे। जो आज भी सूर्यकी तरह विद्यमान हैं, जिनसे मनुष्य जातिका महान् कल्याण होरहा है।

आपके पास कई सैकड़ों, संन्यासी, ब्रह्मचारी आदि रहकर उन अद्वैतभाष्योंका सतत अध्ययन करते थे। उस समय आपकी शिष्यमण्डलीमें एक सनन्दन नामका प्रधान शिष्य था, जिसको आपने अपने समग्र भाष्योंको तीन बार पढ़ाया था। एक दिन आपने गङ्गापारमें रहनेवाले उस सनन्दनको शीघ्र ही अपने पास आनेके लिये पुकार की। उस समय गुरुके पास आनेके लिये नौका आदि कुछ भी साधन नहीं था, तब अनन्य गुरुभक्त सनन्दन अपने मनमें इस प्रकार विचार करने लगा—

संतारिकाऽनवधिसंसृतिसागरस्य,
किं तारयेन्न सरितं गुरुपादभक्तिः ।

ऐसा दृढ़ निश्चयकर तत्काल ही वह शिष्य गङ्गाजीमें कूद पड़ा, भगवती गङ्गाजी भी इस शिष्यकी विशुद्ध-गुरुभक्ति एवं अपूर्व साहस देखकर प्रसन्न हुई, और उसके प्रत्येक पादके नीचे स्वर्णमय कमल लगा दिये, जिन्होंके ऊपर वह अपने पादोंको रखकर निर्विघ्न गुरुदेवके पास जा पहुँचा। गुरुदेव भगवान् शङ्करस्वामी इस शिष्यकी अलौकिक श्रद्धाभक्तिको देखकर अति प्रसन्न हुए और तबसे उसका 'पद्मपाद' ऐसा अन्वर्थ नाम रक्खा, क्योंकि वह गङ्गाजीसे निर्मित कमलोंमें अपने पादोंको रखकर इस पार आया था। वही शिष्य आगे गोवर्धनपीठके प्रधान पद पर आरूढ़ होकर एवं 'पञ्चपादिका' आदि ग्रन्थोंको रचकर 'पद्मपादाचार्य' नामसे प्रसिद्ध हुआ था।

तत्पश्चात् आपने पुनः भारतमें भ्रमण किया, बचेहुए अपने विरोधी द्वैतवादियोंको शास्त्रार्थमें हराया और अपने केवलाद्वैत सिद्धान्त एवं भगवद्भक्तिका प्रचुर प्रचार किया। ब्रह्मविज्ञानके साथ-साथ आपकी भगवद्भक्ति एवं योगसिद्धि भी अपूर्व थी, इसमें प्रमाण आपका आदर्शजीवन एवं आपके ग्रन्थ दे रहे हैं।

एक दिन आप भिक्षाके लिये एक नगरमें जा रहे थे, वहाँ एक बूढ़ा ब्राह्मण व्याकरणकी 'डुकृञ् करणे' धातु कण्ठस्थ कररहा था। इसकी ऐसी दशा देखकर आपने उसी समय उसको उपदेश देना प्रारम्भ किया। वह यह है—

प्राप्ते सन्निहिते मरणे, नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते ! ॥

आपकी अलौकिक विद्वत्ताको देखकर बड़े-बड़े नामी पण्डितोंके भी छक्के छूट जाते थे, आपके सामने बोलनेके लिये कुछ शहूर ही नहीं रहता था, उस समय एक नर्मदातट निवासी मण्डनमिश्र नामका बड़ाभारी विद्वान् था। वह पूर्वमीमाँसा शास्त्रका पूर्ण विद्वान् व अनुयायी था। जिसके बनाये हुये 'विधिविवेक' आदि ग्रन्थरत्न आज भी मौजूद हैं। उसको अपने पाण्डित्यका पूर्ण अभिमान था, वह समझता था कि—मेरे समान पृथ्वीमें और कोई विद्वान् नहीं है।

इसके वृत्तान्तको सुनकर शास्त्रार्थकेशरी आचार्य शङ्करस्वामी तत्काल ही अपनी योगसिद्धिके प्रभावसे आकाशमार्गसे उसके बन्द गृहके भीतर जा पहुँचे। वहाँ वह श्राद्ध करता था। शङ्करस्वामीने उससे शास्त्रार्थकी भिक्षा माँगी। वह भी ऐसा चाहता ही था। जो पराजित हो वह विजेताका आश्रमपरिवर्तन कर शिष्य बन जाय' ऐसी आपसमें दृढ़ प्रतिज्ञाकर दोनोंका शास्त्रार्थ होना निश्चित होगया, और दोनोंकी सम्मतिसे उसकी धर्मपत्नी प्रसिद्ध विदुषी सरस्वतीको मध्यस्थ पदपर नियुक्त किया गया। जो साक्षात् सरस्वतीका अवतार थी। दोनोंके कण्ठमें पुष्प-माला पहिनाकर सरस्वती कहने लगी कि—जो हार जायगा उसके कण्ठकी माला सूख जायगी। शास्त्रार्थ प्रारम्भ होगया। मण्डनमिश्र द्वैतवादको अनेक प्रमाण एवं युक्तियोंसे सिद्ध करता था, और श्रीशङ्करस्वामी उसका खण्डनकर अद्वैतवादका प्रबल-अकाट्य-युक्ति-तर्क प्रमाणादिसे समर्थन करते थे। आखिर

सात रोजके बाद मण्डनमिश्रके कण्ठकी माला सूख गयी। मण्डनमिश्रने अपनी हार स्वीकार की, और द्वैतवादको अवैदिक निश्चय किया। अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वह श्रीशङ्करस्वामीका संन्यासी शिष्य बन गया। आपने उसका संन्यासाश्रमका 'सुरेश्वर' ऐसा नाम रक्खा। जिसने गुरुदेवकी आज्ञासे बृहदारण्यकोपनिषत् आदिके अद्वैत शाङ्कर-भाष्योंके ऊपर विद्वत्तापूर्ण बृहत्-वार्तिक ग्रन्थ लिखे, तथा नैष्कर्म्यसिद्धि आदि अनेक अद्वैत-वेदान्तके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचे। जिन्होंका आज भी सर्वत्र प्रचार है। वे ही पश्चात् शृङ्गेरी पीठके प्रधान पदपर आरुढ होकर 'सुरेश्वराचार्य्य' 'वार्तिककार' 'विश्वरूपभारती' आदि नामोंसे प्रसिद्ध हुये।

उस समय सरस्वतीके साथ भी आपका शास्त्रार्थ हुआ, परकायप्रवेश आदि योगसिद्धियोंके प्रभावसे आपने सरस्वतीको भी परास्त किया।

इसके बाद आपके पास एक 'गिरि' नामका साधन चतुष्टय सम्पन्न शिष्य आया। जिसको संन्यासदीक्षाके समयमें आपसे महावाक्यका उपदेश सुनते ही समाधि लग गयी थी। वह आपकी सेवाके समयमें समाधिसे जाग्रत् होता था एवं अन्य समयमें प्रायः समाधिस्थ ही रहता था। यद्यपि वह प्रथम कुछ विशेष लिखा पढ़ा न था, तथापि आपके दिव्य कृपा-कटाक्ष से ही सकल वेद-शास्त्रोंका पारङ्गत धुरन्धर विद्वान् हो गया था। जिनके बनाये हुए तोटक आदि ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं। पश्चात् वही ज्योतिः-पीठके प्रधान पद-पर आरूढ होकर 'तोटकाचार्य्य' आनन्द-गिरि' 'सिद्धगुरु' आदि नामोंसे प्रसिद्ध हुये।

भारतकी इस यात्रामें एक दिन आप एक जगह समाधिमें बैठे थे, उस समय आपको योगदृष्टिसे ऐसा भान हुआ कि-अपनी वृद्धा-माताका मृत्यु समय समीप आगया है, माता मुझे याद कर रही है, अतः उनके समीप जाना परम आवश्यक है, ऐसा विचार-कर आप अपनी मण्डलीका कार्यभार पद्मपादाचार्य्यजीको सुपुर्द कर शीघ्र ही आकाशमार्गसे माताके पास जा पहुँचे। माताको नमस्कारादि करनेके बाद माताकी इच्छानुसार आपने श्यामसुन्दर विष्णु भगवान् का साक्षात्कार कराकर माताजीको सदा के लिये वैकुण्ठ-धाममें भेज दिया। और आप अपनी मण्डलीमें आगये।

उस समय आपके समीप एक जड़ बालकको लेकर एक ब्राह्मण आया। नमस्कारादि करके उसने कहा हे-भगवन्! यह बालक कुछ भी बोलता नहीं है, एवं बालकोचित चेष्टा भी नहीं करता है, जड़वत् रहता है, यह ऐसा क्यों है? बालककी मौन प्रसिद्ध योगमयी मुख-मुद्राको देखकर शङ्करस्वामीने उसको सम्बोधन करके पूछा कि—

कस्त्वं शिशो! कस्य कुतोऽसि गन्ता,
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतन्मयोक्तं वद चार्भक! त्वं,
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि॥

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

इसी तरह १४ श्लोकोंसे इस बालकने अपने शुद्ध स्वरूपका परिचय दिया। वे श्लोक 'हस्तामलकस्तोत्र' के नामसे आज भी

प्रसिद्ध हैं, इस अद्भुत चमत्कारको देखकर उस ब्राह्मणने इस बालकको आपके चरणोंमें समर्पण किया। आपने इस बालकको पूर्ण सिद्धयोगी जानकर संन्यास-दीक्षासे विभूषित कर 'हस्तामलक' इस अन्वर्थ नामसे प्रसिद्ध किया, क्योंकि उसको हथेलीमें रक्खे हुए आमलेकी तरह आत्मतत्त्वका साक्षात्कार था। वही पश्चात् शारदा-पीठके प्रधान पदपर आरूढ़ होकर 'हस्तामलकाचार्य्य' नामसे विख्यात हुये।

एक समय आपके पास एक तान्त्रिक कापालिक आया। एकान्तमें उसने आपसे याचना की हे भगवन्! हे स्वामिन्! मेरी एक प्रार्थना आपसे पूर्ण होनी चाहिये। आप वाञ्छितफल-प्रद कल्पवृक्ष हैं। आपके समीप आकर कोई विफल मनोरथ हो नहीं सकता। आप परमोदार महाविरक्त एवं जगद्गुरु हैं, आपका परोपकारमय जीवन है, अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि—मेरी अभिलाषा आपसे अवश्य ही पूर्ण होगी।

जब श्रीशङ्करस्वामीने कहा कि—कहिये, आपकी क्या अभिलाषा है? तब कापालिक कहने लगा—कृपानिधान! मैं इस जीवित देहसे महाकैलास जाना चाहता हूँ। इसलिए एक याग किया है। वह याग तब सिद्ध हो सकता है कि—जब एक चक्रवर्ती राजाके शिरकी या पूर्ण-सिद्ध योगीश्वर महापुरुषके शिरकी बलि दीजाय। हे करुणासागर! मुझ दीनके लिये चक्रवर्ती राजाका शिर मिलना सर्वथा असम्भव है। हाँ, यह मुझे पूर्ण विश्वास है कि—आप जैसे पूर्ण योगीश्वर ही मेरी इस कठोर प्रार्थनाको स्वीकार कर मुझे सफल-

मनोरथ कर सकते हैं। क्योंकि आप जैसे महापुरुषकी दृष्टिमें यह देहादि प्रपञ्च तुच्छ एवं मिथ्या है। मैंने सुना है कि—आपके सदुपदेश भी ऐसे ही होते हैं, मैंने आपके समान और कोई पूर्ण सिद्ध-योगीश्वर न सुना है एवं न तो देखा है, अत मेरी इस अभिलाषाको आप अवश्य पूर्ण करेंगे ऐसी आशा है। इतना कहकर कापालिक चुप होगया।

कापालिककी इस दीनतामयी प्रार्थनासे याचक कल्पतरु दयालु भगवान् श्रीशङ्करस्वामीजीका कोमल हृदयद्रवीभूत होगया। सच कहा है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमीश्वरः॥

आपने तत्काल ही परम-निर्भयताके साथ कह दिया कि—अच्छा, तुम कल प्रातःकाल तीन बजे ठीक यहाँ चुप-चाप आ जाना, और मेरे इस शरीरके शिरको काटकर ले जाना। ख्याल रहे कि—मेरे इस शिष्य मण्डलमें पता न लग जाय, नहीं तो वे लोगविघ्न करेंगे।

आपके इन परमोदार वचनोंको सुनकर कापालिककी प्रसन्नताका पार नहीं रहा, और वह दूसरे दिन ठीक निर्दिष्ट समयमें आपके पास आ पहुँचा। उस समय आपने सिद्धासन लगाकर निखिल इन्द्रिय तथा प्राणोंको रोककर निर्विकल्प समाधि लगा ली, और वह कपालिक शस्त्रको उठा कर आपके शरीरका शिर काटनेके लिये उद्यत हुआ। उस समय पद्मपादाचार्य्यजी नृसिंह भगवान्का ध्यान कर रहे थे, ध्यानके समय उनको ऐसा भान हुआ कि—मेरे गुरुदेवके शिरको कापालिक काट रहा है, शीघ्र ही वे गुरुदेवके

समीप आ पहुँचे, और वहाँ वैसाही दृश्य देखा। तत्काल ही पद्मपादाचार्य्यजीने '**लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्**' इत्यादि १३ श्लोकोसे नृसिंह भगवान् की स्तुति की। वह स्तुति 'लक्ष्मी-नृसिंहस्तोत्र' के नामसे आज भी प्रसिद्ध है, इस स्तोत्रका अनुष्ठान महान् से भी महान् सङ्कटका नाशक है। स्तुतिके प्रभावसे भगवान् नृसिंह तुरन्त प्रकट होगये, और दुष्ट कापालिकका काम तमाम (खतम) कर दिया, पश्चात् पद्मपादाचार्य्यजीने समाधि खोलकर आपको जाग्रत किया। यह वृत्तान्त जानकर आप 'हरेरिच्छा-बलीयसी' ऐसा कहकर चुप होगये।

आप अपनी मण्डली सहित बदरिकाश्रम गये। शिष्य-मण्डलीको आपने अपना अन्तिम प्रस्थानका समय प्रथमसे ही सुचित कर दिया था, जिससे भारतके भावुक संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार आदि इधर-उधरसे आपके अन्तिम दर्शन करनेके लिये वहाँ आगये थे। सबकी हार्दिक अन्तिम सदुपदेशकी जिज्ञासा व प्रार्थना देखकर आपने '**वेदोनित्य-मधीयताम्**' आदि पाँच श्लोकोंसे उपदेश कर सबके सामने अन्त-र्ध्यान होगये, जो सदुपदेश आज भी 'उपदेश-पञ्चक' के नामसे भारतमें सर्वत्र प्रसिद्ध है।

यद्यपि श्रीशङ्करस्वामीजीके अवतार समयमें बहुत मत-भेद है, परन्तु मठोंकी परम्परा व शिला-लेखसे यह निश्चित होता है कि— श्रीशङ्करस्वामीजीका प्रादुर्भावकाल युधिष्ठिर सम्वत् २६३१ वैशाख शुक्ल ५ माना जाता है, जिसको अब २४०४ वर्ष होजाते हैं।

—महेश्वरानन्द

अद्वैते प्रथितं समीक्ष्य रुचिरे विज्ञानिकैरर्चितं,
शिष्यैः साधुभिराश्रितं नमसितं सुज्ञैर्मुनीन्द्रैरपि ।



स्रग्भस्मादिविभूषितं गुणनिधिं संख्यावतां सद्गुरुं,
तं वन्दे सततं महेश्वरयतिं सच्चित्सुख देशिकम् ॥

श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८

स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज मण्डलेश्वर

सत्यं परं धीमहि

ॐ

प्रातःस्मरणस्तोत्रम्

प्रातःस्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम्,
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यम्,
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः ॥ १ ॥

समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्वयंप्रकाशरूपसे भासमान, सत् चित् और आनन्दरूप, ब्रह्मनिष्ठ-विरक्त-परमहंस संन्यासियोंकी परमगतिरूप, जो तुरीय साक्षी चेतन आत्म-तत्त्व है, उसका मैं निरन्तर एकाग्रतासे एवं परम श्रद्धाभक्तिसे प्रातःकालमें स्मरण करता हूँ। जो स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति रूपी तीन अवस्थाओंका जाननेवाला निर्विकार द्रष्टा है, नित्य है, निष्कल-निरवयव ब्रह्म है, वही मैं हूँ। आकाशादि पांच भूतोंका अल्प-समुदायरूप शरीर-इन्द्रिय आदि मैं नहीं हूँ।

प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यम्,
वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचु-
स्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम्, ॥ २ ॥

जो तत्त्व मन और वाणीसे जाना नहीं जाता है, किन्तु जो मन-वाणीका प्रकाशक है, उस स्वयंज्योति सर्वात्मा भगवान्‌को मैं प्रातःकालमें भजता हूँ । जिसके सत्ता-स्फूर्तिरूपी अनुग्रहसे, तमाम वाणियाँ प्रतीत होती हैं, यानी तमाम वाणीसे उपलक्षित यावत् संसार जिसकी सत्तासे भासता है । ऋग् यजु आदि वेदोंने जिस सर्वाधिष्ठान तत्त्वको 'नेति नेति' वचनोंसे कहा है, यानी तमाम प्रपञ्चका निषेध करके परिशेषरूपसे बतलाया है, उस तत्त्वको ही विरक्त विद्वान् लोग अजन्मा, अविनाशी, सबसे श्रेष्ठ एवं देवोंके देव महादेवरूपसे प्रतिपादन करते हैं ।

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं,
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्त्तौ,
रज्ज्वां भुजङ्गम इव प्रतिभासितं वै ॥ ३ ॥

मायारूपी अन्धकारसे परे, सूर्यके समान ज्योतिःस्वरूप, यानी सर्व प्रकाशक पुरुषोत्तम नामवाले पूर्ण सनातन पदको मैं प्रातःकालमें नमस्कार करता हूँ । जिस सर्वाभिन्न सर्वाधिष्ठान तत्त्वमें विद्वानोंको

यह चराचर जगत् रस्सीमें सर्पके समान मिथ्या कल्पित मालूम हो रहा है ।

श्लोकत्रयमिदं पुण्यं, लोकत्रयविभूषणम् ।
प्रातःकाले पठेद्यस्तु स गच्छेत्परमं पदम् ॥

तीनों लोकोंके भूषणरूप, इन पवित्र तीन श्लोकोंको जो प्रातः-कालमें पढ़ता है, वह ब्रह्मनिर्वाणरूपी परमपदको प्राप्त होजाता है ।

॥ इति प्रातःस्मरणस्तोत्रंसमाप्तम् ॥

श्रीहरिशरणाष्टकम्

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये,
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै ।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेव,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥ १ ॥

कोई शिव ही को ध्येय यानी उपास्य कहते हैं, कोई शक्ति-भगवतीको, कोई गणेशको एवं कोई सूर्य-नारायणको ध्येय बताते हैं। परन्तु हे नाथ ! आप एक ही उन शिवादि रूपोंसे प्रकट होते हैं।

इसलिये हे हाथमें * शङ्खको धारण करनेवाले प्रभो! मुझ अशरणका एक आप ही शरण हैं, यानी मुझ निराधार-असहायका आप ही आधार हैं, सहायक हैं, अथवा आप ही मेरे शरण यानी रक्षा करनेवाले हैं।

नो सोदरो न जनको जननी न जाया,
नैवात्मजो न च कुलं विपुलं बलं वा।
संदृश्यते न किल कोऽपि सहायको मे,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे! ॥ २ ॥

इस संसारमें न भाई सहायक दीखता है, न माता, न पिता, न स्त्री, न पुत्र, न कुल, न अधिक बल मेरा सहायक दीखता है; इसलिये हे हाथमें शङ्खको धारण करनेवाले! आपही मेरी-रक्षा करनेवाले हैं।

नोपासिता मदमपास्य मया महान्तः,
तीर्थानि चास्तिकधिया नहि सेवितानि।

---

* शङ्खपाणि साकार- मूर्ति विष्णु भगवान्का नाम है। शङ्खपाणिका आध्यात्मिकभाव इसप्रकार है। शङ्ख ॐकाररूप है। ॐकारमें जैसे तीन मात्राएँ और एक अमात्र-अर्धबिन्दु हैं, ऐसे ही शङ्खमें साढे तीन चक्र होते हैं। शङ्खमें स्वभावसे ही ॐकारकी ध्वनि होती है। इसलिये शंख ॐकाररूप है, और '**ॐकार एवेदं सर्वम्**' अर्थात् ॐकार सर्वजगत्‌रूप है। हाथसे सभी वस्तु नापी जाती है, जो ॐकाररूप सब जगत्‌को नाप लेता है-यानी जो सर्वजगत्‌में व्यापक है, वही हाथमें शङ्खको धारण करनेवाला, अमात्र ॐकारका लक्ष्य शुद्ध-सच्चिदानन्दरूप परमात्मा है।

देवार्चनं च विधिवन्न कृतं कदापि,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥ ३ ॥

हा ! बड़े ही खेद एवं लज्जाकी बात है—मैंने मद (गर्व) को छोड़कर महापुरुषोंकी उपासना (संगति) न की। आस्तिकबुद्धिसे काशी आदि तीर्थोंका सेवन भी नहीं किया। न तो विधिपूर्वक शिवादि देवोंका पूजन ही किया, इसलिये हे हाथमें शङ्खको धारण करनेवाले! आप मेरी-रक्षा करनेवाले हैं।

दुर्वासना मम सदा परिकर्षयन्ति,
चित्तं, शरीरमपि रोगगणा दहन्ति।
संजीवनं च परहस्तगतं सदैव,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥ ४ ॥

अनेक प्रकारकी बुरी-बुरी वासनाएँ मेरे चित्तको सदा दुःख देती हैं, अनेक रोगोंका समुदाय शरीरको सदा जलाता रहता है। इसप्रकार मेरा यह क्षणभंगुर जीवन परतन्त्र हो रहा है, इसलिये हे हाथमें शङ्खको धारण करनेवाले! आप ही मेरी रक्षा करनेवाले हैं।

पूर्वं कृतानि दुरितानि मया तु यानि,
स्मृत्वाऽखिलानि हृदयं परिकम्पते मे।
ख्याता च ते पतितपावनता तु यस्मात्,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥ ५ ॥

प्रथम मैं जो-जो पाप-कर्म कर चुका हूँ, उन सबको स्मरण करके मेरा हृदय कांपता है, परन्तु हे प्रभो ! आपकी पतित-पावनता संसारमें प्रसिद्ध है, आपने बहुतसे पतितोंको पावन किया है, अतः मुझ पतितको भी आप अवश्य ही पावन करेंगे, इसलिये हे हाथमें शङ्खको धारण करनेवाले ! आप ही मेरी रक्षा करनेवाले हैं।

दुःखं जराजननजं विविधाश्च रोगाः,
काकश्वसूकरजनिर्निरये च पातः ।
ते विस्मृतेः फलमिदं विततं हि लोके,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥ ६ ॥

मैं वृद्धावस्था एवं अनेक जन्मोंके द्वारा महादुःख भोग चुका हूँ, अनेक प्रकारके रोगोंका कष्टमय अनुभव, मुझे हो चुका है, काक-कूकर-शूकर आदि अधम योनियोंमें भी मैं उत्पन्न हो चुका हूँ, महापाप कर्मके प्रभावसे नरकमें भी गिर चुका हूँ। हे प्रभो ! यह सब कष्टमय फल, एकमात्र आपको भूल जानेसे ही हुआ है, संसारके सभी मनुष्योंको यह बात विदित है—प्रसिद्ध है, इसलिये हे हाथमें शङ्खको धारण करनेवाले ! आप ही मेरी रक्षा करनेवाले हैं।

नीचोऽपि पापवलितोऽपि विनिन्दितोऽपि,
ब्रूयात्तवाहमिति यस्तु किलैकवारम् ।

तं यच्छसीश ! निजलोकमिति व्रतं ते,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! चाहे नीच हो, पापी हो, या संसारमें विशेषरूपसे निन्दित भी हो, परन्तु यदि वह 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ' ऐसा एक बार भी कहताहै, तो हे ईश ! आप उसे अपने परम-धाममें ले जातें हैं, ऐसी आपकी प्रतिज्ञा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। इसलिये हे हाथ में शङ्खको धारण करनेवाले ! आप ही मेरी रक्षा करने वाले हैं।

वेदेषु धर्मवचनेषु तथाऽऽगमेषु,
रामायणेऽपि च पुराणकदम्बके वा।
सर्वत्र सर्वविधिना गदितस्त्वमेव,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥ ८ ॥

वेदोंमें, मन्वादिधर्मशास्त्रोंमें, तथा वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रोंमें, रामायणमें तथा भागवत आदि सम्पूर्ण पुराणोंमें सर्वविधिसे एकमात्र आप ही जानने योग्य हैं। यानी तमाम शास्त्र एकमात्र आप का ही प्रतिपादन कर रहे हैं, इसलिये हे हाथमें शङ्खको धारण करनेवाले ! आप ही मेरी रक्षा करनेवाले हैं।

॥ इति श्रीहरिशरणाष्टकंसमाप्तम् ॥

——:o:——

श्रीगुर्वष्टकम्

शरीरं सुरूपं तथा वा कलत्रं,
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम् ।
मनश्चेन्न लग्नं हरेरङ्घ्रिपद्मे,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ १ ॥

यदि शुद्ध एवं एकाग्रभावसे जगद्‌गुरु प्रभु श्रीहरिके चरणकमलों में मन नहीं लगा है तो शरीर सुन्दर एवं आरोग्ययुक्त हुआ तो उससे क्या ? सुन्दरी सती स्त्री प्राप्त हुई तो उससे भी क्या ? निर्मल अद्‌भुत एवं विस्तृत कीर्ति और सुवर्णमय सुमेरु पर्वतके समान विपुल धन प्राप्त हुआ तो भी उससे क्या ? कुछ नहीं । यानी श्रीहरि-भक्तिके विना यदि संसारके सब वैभव प्राप्त हों तो भी वे सब व्यर्थ हैं, भाररूप हैं, शोक एवं दुःखके साधन हैं । नारायणस्वामीने क्या ही अच्छा कहा है—

विद्या वित्त सुरूप गुण, सुत दारा सुख भोग ।
नारायण हरि भक्ति बिन, ये सब ही हैं रोग ॥

कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि कीर्तिः
गृहं बान्धवाः जातिमेतद्धि सर्वम् ।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ २ ॥

यदि हरिरूप श्रीगुरुदेवके चरणकमलमें मन न लगा तो स्त्री, धन, पुत्र-पौत्रादि, कीर्ति, गृह, बन्धुवर्ग, उत्तम-जाति, इत्यादि, सब होनेपर भी, उन सबसे क्या ? अर्थात् कुछ नहीं। हरि-गुरु-भक्ति-विना का जीवन निष्फल है, निःसार है ।

षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या,
कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति ।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ३ ॥

यदि जगद्गुरु परमेश्वर श्रीहरिके चरणकमलोंमें मन नहीं लगाया और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिषादि छः अङ्ग सहित ऋगादि वेद, पूर्वमीमाँसा, उत्तरमीमाँसा, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक आदि शास्त्र, एवं चौदह विद्याओंको कण्ठस्थ भी करलिया हो, तो उससे क्या ? और गद्यपद्यात्मक काव्यादि रचनेका सामर्थ्य भी हो, तो उससे क्या ? अर्थात् कुछ नहीं। हरि-भक्ति विना तमाम विद्याकी प्राप्ति निष्फल है, वेद-शास्त्रादिकी विद्या का फल, हरिभक्ति है। हरि-भक्ति रहित पण्डितका जीवन पशुके समान है । हरिभक्तिसे ही पाण्डित्य शोभा पाता है ।

विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः,
सदाचारवृत्तेषु मत्तो न चान्यः ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ४ ॥

विदेशमें मान है एवं स्वदेशमें प्रशंसा है और अपनी सदाचारपरायणताका इतना बड़ा गर्व है कि—मुझसे अधिक सदाचारी दूसरा कोई है ही नहीं, यह सब होनेपर भी यदि श्री हरिरूप गुरुदेवके चरणकमलमें निष्कपटभावसे मन नहीं लगा है तो इन सबसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

क्षमामण्डले भूपभूपालवृन्दैः,
सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम्।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ५॥

जिसके चरणकमलोंकी सेवा पृथ्वीमण्डलके तमाम राजा महाराजालोग सदा करते हों, तथापि यदि उसका चित्त श्रीहरिके चरणकमलोंमें एकाग्रतासे नहीं लगा है, तो ऐसे हरि-विमुख मनुष्यका इतना बड़ा सम्मान नितान्त निष्फल ही है। यानी हरिभक्तिशून्य मनुष्यका दंभादिसे राजाओंके द्वारा सन्मान हो तो भी उससे क्या? कुछ भी नही।

यशो मे गतं दिक्षु दानप्रतापात्,
जगद्वस्तु सर्वं करे यत्प्रभावात्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ६॥

'दानके प्रतापसे मेरा यश सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त है, जिसके

प्रभावसे संसारके तमाम पदार्थ मेरे हाथमें हैं' ऐसा समझनेवाले दानशील उदार पुरुषका दान भी निष्फल है, यदि उसका हरिरूप श्रीगुरुदेव के चरणकमलोंमें निष्कपटभावसे मन नहीं लगा है।

न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ,
न कान्तामुखे नैव वित्तेषु चित्तम्।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ७ ॥

यदि कोई ऐसा जितेन्द्रिय-विचारशील-महापुरुष है कि—जिसका चित्त, न तो भोगविलासमें, न हठयोगादिमें, न उत्तम घोडों में, न चन्द्रमुखी कामिनीमें, और न धन धान्यादिके संग्रहमें आसक्त हुआ है, परन्तु ऐसी अनासक्ति एवं वैराग्यके होते हुए भी यदि जगद्गुरु श्रीहरिके चरणकमलोंमें एकाग्रतासे मन नहीं लगाया है, तो उसकी जितेन्द्रियतासे एवं वैराग्यसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

अरण्ये न वा स्वस्य गेहे न कार्ये,
न देहे मनो वर्तते मे त्वनर्घ्ये।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ८ ॥

यदि कोई ऐसा विरक्त है कि—जिसकी मनोवृत्ति, निज परिवारसे पूरित सम्पत्तिशाली घरमें, व्यापारमें, शरीरके पालन-पोषणादि में तथा अमूल्य पदार्थोंके संग्रहादिरूप किसी भी कार्यमें नही लगी है,

किन्तु एकान्त अरण्यमें लगी है, परन्तु श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंमें उसका मन लगा नहीं है तो उसका यह वैराग्य निरर्थक है।

अनर्घ्याणि रत्नानि भुक्तानि सम्यक्,
समालिङ्गिता कामिनी यामिनीषु।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ९ ॥

यदि जगत्गुरु श्रीहरिके चरणकमलोंमें एकाग्रतासे मन नहीं लगा है, तो अमूल्य रत्नोंका उपभोग एवं रात्रिमें कामिनीका आलिङ्गन आदि प्राकृत—तुच्छ सुख होने पर भी क्या हुआ ? कुछ भी नहीं।

गुरोरष्टकं यः पठेत्पुण्यदेही,
यति र्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही।
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं,
गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नम् ॥ १० ॥

जो पुण्यात्मा संन्यासी, नृपति, ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ इस श्रीगुर्वष्टकको पढ़ता है एवं जिसका मन श्रीगुरुदेवके कहे हुए वाक्यों में लगा है, यानी गुरुके उपदेशको जो शुद्ध-श्रद्धासे अङ्गीकार करता है, वह अभिलषित-वस्तु-परमानन्दरूप-ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त होता है।

॥ इति श्रीगुर्वष्टकंसमाप्तम् ॥

——:०:——

श्रीदक्षिणामूर्ति-स्तोत्रम्

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं,
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ १ ॥

दर्पणमें दीखती हुई नगरीके समान, यह तमाम नामरूपात्मक विश्व, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप-व्यापक-आत्माके भीतर दृश्यमान है। यानी इस कल्पित-प्रतीतिमात्र विश्वका आधार-अधिष्ठान एकमात्र-आत्मा ही है। जैसे निद्रा-दोषसे तीन कालमें भी अविद्यमान स्वप्न-प्रपञ्च, सत्यकी तरह बाहर उत्पन्न हुएके समान, स्वप्नसाक्षी तैजस-आत्मामें प्रतीत होता है। तद्वत् यह जाग्रत्-प्रपञ्च तीन कालमें अविद्य-मान होनेपर भी विशुद्ध आत्मामें माया-शक्तिसे सत्यकी तरह भासता है। इसप्रकार जो इस द्वैत-प्रपञ्चको मिथ्या-मायामय निश्चय करके श्रीशङ्कर महादेवके समान श्रीगुरुदेवकी कृपासे अद्वैत ब्रह्मात्म-तत्त्वका बोध प्राप्त करता है, उसकी दृष्टिसे द्वैत-प्रपञ्चका सुतरां अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसा अद्भुत साक्षात्कार जिस शिवरूप गुरुके अनुग्रहसे प्राप्त है, ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणा-मूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धाभक्तियुक्त नमस्कार है।

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्‌ निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ २ ॥

जैसे बीजके भीतर अव्यक्तरूपसे अङ्कुर रहता है, तद्वत् यह दृश्यमान जगत् पूर्वमें अव्यक्तरूपसे मायाविशिष्ट निर्विकल्प-ब्रह्ममें वर्तमान था । पश्चात् अघटघटनापटीयसी माया-शक्तिके प्रभावसे अध्यस्त देश, काल, नाम, रूप, आदिकी विचित्र कल्पना द्वारा चित्रके समान व्यक्तरूपसे प्रकट हुआ । जैसे मायावी (जादूगर) या महायोगी अपनी विलक्षण-इच्छाशक्तिके द्वारा एकसे अनेक होजाता है, तद्वत् जो परमात्मा अपनी शक्तिके द्वारा एकसे अनेक रूप बनकर विविध-विलासोंका अनुभव करता है, 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' (श्रुति)। ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धाभक्तियुक्त नमस्कार है ।

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते,
साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान् ।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ३ ॥

जिसकी सत्ता-स्फूर्ति, असत्के समान मिथ्या द्वैत-प्रपञ्चमें अनुगत होनेके कारण मिथ्या-प्रपञ्च भी सत्की तरह प्रतीत होता है ।

जो जगद्गुरु विश्वनाथ अपने अनन्य शरणागत-शिष्योंको 'तत्त्वमसि' वह तू है, उससे भिन्न नहीं; इस प्रकार वेद-वाक्योंके द्वारा साक्षात् स्वस्वरूपका उपदेश करते हैं। जिसके साक्षात् करनेपर इस भीषण-संसाररूपी महासागरमें जन्म-मरणरूपी पुनरावृत्ति नहीं होती है। ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणा-मूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं,
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिःस्पन्दते।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जगत्,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥ ४॥

छोटे-छोटे अनेक छेदवाले घटके भीतर स्थित बड़े दीपकके प्रकाशके समान प्रकाशवाले जिस चेतन-आत्माका ज्ञान, चक्षुआदि इन्द्रियोंके द्वारा बाहर प्रकाशित होता है, जिससे मैं रूपको जानता हूँ, शब्दको सुनता हूँ, इत्यादि अनुभव प्राणीमात्रको होता है। इसलिये उस चेतन आत्माके प्रकाश होनेके बाद ही यह समस्त चराचर जगत् प्रकाशित होता है। ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणा-मूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः,
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः।

मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ५ ॥

जो स्त्रीके समान विवेकहीन हैं, बालकके समान दुराग्रही हैं, एवं उन्मत्तके समान बुद्धिहीन हैं, ऐसे विषयासक्त मूढ़लोग देह, प्राण, इन्द्रिय, चञ्चल-बुद्धि एवं शून्यको ही 'अहं' (मैं) कहते हैं, इसलिये वे लोग भ्रान्त होनेके कारण मिथ्या बकवादी माने जाते हैं। भगवान् श्रीशङ्कर अपने शरणागत शिष्योंके हृदयसे मायाशक्तिका कार्य जो कल्पित महामोह है, उसके ध्वंस करनेवाले हैं। ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धाभक्तियुक्त नमस्कार है।

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्,
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत्सुषुप्तः पुमान्।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ६ ॥

जैसे राहुसे सूर्य और चन्द्रमा आच्छादित होता है, तद्वत् सन्मात्र चेतन आत्मा भी मायासे आच्छादित होता है। इसलिये वही आत्मा चक्षुरादि बाह्यकरण एवं बुद्ध्यादि आभ्यन्तर करणका विलय करके सुषुप्त होता है, यानी अज्ञानकी गोदमें सो जाता है। और वही आत्मा जाग्रत् होकर 'मैं पूर्वमें सोया था, अब जाग रहा हूँ' ऐसा पूर्वापरका अनुसन्धान करके स्वयं जानता है, एवं अन्यसे

कहता भी है। ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणा-मूर्ति भगवान् श्री महादेवको यह मेरा श्रद्धाभक्तियुक्त नमस्कार है।

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि,
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो भद्रया मुद्रया,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ७॥

बाल्य, कौमार, आदि एवं जाग्रत्, स्वप्न आदि समस्त परस्पर व्यभिचारी अवस्थाओंमें जो अनुस्यूत है, यानी जो इन समस्त अवस्थाओंका साक्षी है, और इन विकारी अवस्थाओंके आने जाने पर भी जो कूटस्थ, एकरस, एवं निर्विकार रहता है। जो बुद्धिरूपी गुहाके भीतर 'अहं' (मैं हूँ) इस प्रकारके अनुभवसे सदा प्रकाशित है। जो श्रद्धा-विश्वास पूर्वक एकाग्रतासे भजन करनेवाले महानुभाव हैं, उनके लिये भगवान् श्रीशङ्कर भद्रामुद्राके द्वारा उपदेशसे अपने सर्वात्मस्वरूपको प्रकट करते हैं, ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः,
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामितः,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ८॥

शरीररूपी पुरीमें शयन करनेवाला यह जीव, मायाके वश

होकर चारों तरफ रात्रिदिन भ्रमण करता रहता है, कभी स्वप्नमें जाता है तो कभी जाग्रत् में । और कार्यकारणके भावसे, स्वस्वामीके सम्बन्धसे, शिष्य-आचार्यके भावसे तथा पिता, पुत्र, पति, पत्नी, आदिके भेदसे इस चराचर विश्वको देखता है, ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

भूरंभास्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमान्,
इत्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम् ।
नान्यत्किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात् परस्माद्विभोः,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ९ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और पुरुष (आत्मा) चर-अचर (स्थावर-जंगम) स्वरूप जो आठ मूर्तियाँ हैं, उनके द्वारा जो सदा प्रकाशित होरहा है। और ब्रह्मनिष्ठ-गुरुओं के द्वारा जो आत्मा-अनात्माके विचार करनेवाले हैं, उनको उस परात्पर-व्यापक-परमात्मासे भिन्न कुछ भी विद्यमान नहीं दीखता है। ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणा-मूर्ति भगवान् श्रीमहादेवको यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिंस्तवे,
तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद्ध्यानाच्च संकीर्तनात् ।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः,
सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम् ॥ १० ॥

इस दक्षिणामूर्ति-स्तोत्रमें मुमुक्षुओंके लिये सर्वात्मभाव स्पष्ट किया है। अतः इसके श्रवणसे, अर्थके मनन से, ज्ञेय वस्तुके निरन्तर ध्यान (अनुसन्धान) से और योग्य अधिकारियोंके लिये इसका उपदेश करनेसे सर्वात्मभावरूपी महाविभूति सहित ईश्वरभाव स्वतः सिद्ध प्राप्त हो जाता है, और पुनः अष्ट सिद्धि एवं अष्ट ऋद्धिके रूपमें परिणत हुआ अप्रतिहत ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है।

॥ इति श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रंसमाप्तम् ॥

अच्युताष्टकम्

अच्युतं केशवं रामनारायणं,
कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम् ।
श्रीधरं माधवं गोपीकावल्लभं,
जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥ १ ॥

जो अच्युत, केशव, राम, नारायण, कृष्ण, दामोदर, वासुदेव, हरि, श्रीधर, माधव, गोपिकाके वल्लभ (परम प्रिय) जानकीके स्वामी श्रीरामचन्द्र हैं, उनको मैं भजता हूँ।

अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं,
माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम् ।

इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं,

देवकीनन्दनं नन्दजं सन्दधे ॥ २ ॥

जो अच्युत, केशव, सत्यभामाके प्रियपति, लक्ष्मीको धारण करनेवाले, श्रीराधिकाजीसे आराधित, शोभाके धाम, सुन्दर-मनमोहक, देवकीको आनन्द देनेवाले हैं, उस नन्दबाल भगवान्का मैं एकाग्र चित्तसे निरन्तर ध्यान करता हूँ।

विष्णवे जिष्णवे शङ्खिने चक्रिणे,

रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये ।

वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने,

कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः ॥ ३ ॥

जो विष्णु-व्यापक स्वरूप हैं, सर्वदा जयशील हैं, शङ्ख एवं चक्रको धारण करनेवाले हैं, रुक्मिणीदेवीमें जिनका अनुराग है, जो जानकी भगवतीके प्राणप्रिय स्वामी हैं, गोपिकाओंके जो प्राणाधार हैं, कंसको मारनेवाले, बन्शीके बजानेवाले, सब जगत्के पूज्य, आत्म-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको सदा नमस्कार है।

कृष्ण ! गोविन्द ! हे राम ! नारायण !,

श्रीपते ! वासुदेवाजित ! श्रीनिधे ! ।

अच्युतानन्त ! हे माधवाधोक्षज !,

द्वारकानायक ! द्रौपदीरक्षक ! ॥ ४ ॥

हे कृष्ण ! हे गोविन्द ! हे राम ! हे नारायण ! हे लक्ष्मीके

प्राण-पति ! हे वासुदेव ! हे अजित ! यानी किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले ! हे शोभाके समुद्र ! हे अच्युत ! हे अनन्त ! यानी देशसे कालसे एवं वस्तुसे भी जिसका अन्त-परिच्छेद नहीं है, हे माधव ! यानी मायाके नियामक, हे अधोक्षज ! यानी इन्द्रियजन्य-तुच्छ ज्ञान जिनने तिरस्कृत किया है, हे द्वारकाके स्वामी ! हे द्रौपदीके रक्षक ! आपको सदा नमस्कार है।

राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो,
दण्डकारण्यभूपुण्यताकारणम् ।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरैः सेवितोऽ-
गस्त्यसंपूजितो राघवःपातु माम् ॥ ५ ॥

जो रावणादि-राक्षसोंद्वारा क्षोभ (कोप) को प्राप्त हुए हैं, सीता-भगवतीसे जो सुशोभित हैं, जो दण्डकारण्यकी पृथ्वीकी पवित्रताके कारण हैं, यानी जिनने दण्डकारण्यको पवित्र किया है, जो लक्ष्मण जीसे अन्वित (युक्त), हनुमान् आदि वानरोंसे सेवित, अगस्त्य महर्षिसे पूजित, रघुवंश-भूषण श्रीरामचन्द्र हैं, वे मेरी रक्षा करें।

धेनुकारिष्टकोऽनिष्टकृद्द्वेषिणां
केशिहा कंसहृद्वंशिकावादकः ।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो,
बालगोपालकः पातु मां सर्वदा ॥ ६ ॥

जो धेनुकासुरके नाशक, एवं द्वेषी-असुरोंके अनिष्ट करनेवाले

हैं, जो केशी राक्षस एवं कंसके मारनेवाले हैं एवं बन्शीके बजानेवाले हैं। जो कोपावेशसे पूतना-राक्षसीको मारनेवाले, एवं देवोंके अंशसे अवतीर्ण हुए गोपबालोंसे खेलनेवाले हैं, ऐसे बाल-गोपाल श्रीकृष्ण, सर्वदा मेरी रक्षा करें।

विद्युदुद्योतवत्प्रस्फुरद्वाससं,
प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम् ।
वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं,
लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे॥ ७॥

बिजलीके चमककी तरह जिनके पीले वस्त्र सुशोभित हैं, वर्षाकालके मेघकी तरह जिनका श्यामसुन्दर शरीर अत्यन्त शोभायमान है, एवं वन-तुलसीकी मालासे जिनका वक्षस्थल सुशोभित है, जिनके कमलके समान सुन्दर नेत्र हैं, एवं लाल-लाल चरणकमल हैं, ऐसे भगवान्का मैं भजन करता हूं।

कुञ्चितैःकुन्तलैर्भ्राजमानाननं,
रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः।
हारकेयूरकं कंकणप्रोज्ज्वलं,
किंकिणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे॥ ८॥

घुँघराले-काले-काले टेढ़े बालोंसे जिनका मुखकमल अत्यन्त सुशोभित है एवं जिनके मस्तकमें अनेक-प्रकारके बेशकीमती रत्न चमक रहे हैं। जिनके लाल-लाल कपालोंमें रत्नजड़ित-कुण्डलोंकी

द्युति शोभा पारही है। जिनने हार एवं केयूर धारण किये हैं, कङ्कणों (हाथके आभूषण) की और किङ्किणी (क्षुद्रघण्टिकासे युक्त पाद का आभूषण) की द्युति एवं ध्वनिसे जो अतीव मन-मोहक प्रतीत हो रहे हैं, ऐसे श्यामसुंदर भगवान्‌को मैं निरन्तर भजता हूँ।

अब अच्युताष्टक स्तोत्रके पढ़नेका फल बतलाते हैं—

अच्युतस्याष्टकं य पठेदिष्टदं,
प्रेमतः प्रत्यहं पूरुषः सस्पृहम्।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृविश्वम्भरः
तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम्॥ ९॥

जो मनुष्य, एकमात्र प्रभु-प्राप्तिकी अभिलाषाको रखकर, प्रतिदिन बड़े प्रेमसे इस अतिसुन्दर छन्दवाले अच्युताष्टक स्तोत्रको पढ़ता है। विश्वम्भर-विश्वकर्ता श्रीहरि शीघ्र ही उसके वशीभूत हो जाते हैं।

॥ इति अच्युताष्टकंसमाप्तम् ॥

षट्पदी-स्तोत्रम्

अविनयमपनय विष्णो ! दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥ १ ॥

हे विष्णो ! व्यापकस्वरूप-परमात्मन् ! मेरा अविनय (क्षुद्र-अभिमानरूपी उद्दण्डता) दूर कीजिये, मेरे उच्छृङ्खल-मनका दमन कीजिये, और विषयोंकी मृग-तृष्णा को शान्त कर दीजिये, प्राणियों के प्रति मेरा दयाभाव बढाइये, और इस संसार-सागरसे मुझे पार लगाइये ।

दिव्यधुनीमकरन्दे परिमल-परिभोगसच्चिदानन्दे ।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥ २ ॥

जो चरणकमल, संसारके जन्ममरणरूपी भय, एवं आध्यात्मिकादि-त्रिविध तापके छेदन करनेवाले हैं, जिन चरणकमलसे श्रीभागीरथी गंगारूपी मकरन्द (कमल-पुष्परस) सतत प्रवाहित होता रहता है। जिन चरण-कमलोंका सच्चिदानन्दरूपी परिमल, (पुष्पोंकी श्रेष्ठ सुगन्ध) तमाम चतुर्दश भुवनमें विस्तृत होरहा है, ऐसे लक्ष्मीपति श्रीविष्णु भगवान्के चरणकमलोंमें मैं निरन्तर वन्दना करता हूँ ।

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥

यद्यपि सच्चिदानन्द दृष्टिसे आपमें एवं मुझमें कुछ भी भेद नहीं है, जो आप हैं सो मैं हूँ, तथापि हे नाथ! मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं। जैसे जलरूपसे समुद्र और तरङ्ग एक है, जलदृष्टिसे दोनोमें भेद नहीं माना जाता, परन्तु समुद्र एवं तरङ्गदृष्टिसे दोनोंका कल्पित भेद भी है। जैसे समुद्रके तरङ्ग कहे जाते हैं, तरङ्गोंका समुद्र नहीं कहा जाता। समुद्रके आधीन तरङ्ग होते हैं, तरङ्गके आधीन समुद्र नहीं होता। समुद्रके गुण, कर्म, शक्ति, अनन्त हैं; तरङ्गके गुणादिक अनन्त नहीं। तद्वत् आपका ही मैं कहा जाता हूँ, आप मेरे नहीं कहे जाते। आपके आधीन मैं हूँ, आप मेरे आधीन नहीं। समष्टि एवं व्यष्टिरूपी उपाधिसे आपसे मेरा कल्पित भेद है, उपाधि के छोड़ देने पर कुछ भी भेद नहीं रह जाता। समष्टि उपाधि होनेसे आपके गुण, कर्म, शक्ति, ज्ञान एवं ऐश्वर्य अनन्त हैं। मुझ व्यष्टि उपाधि वालेके गुणादिक अनन्त नहीं हैं। इसलिये मैं ही आपका हूँ।

उद्धृतनग! नगभिदनुज! दनुजकुलामित्र! मित्रशशिदृष्टे!।
दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥

हे उद्धृतनग! यानी गोवर्धन पर्वतको धारण करनेवाले! हे इन्द्रके छोटे भाई वामन भगवान्! असुरोंके कुलके शत्रु, हे सूर्य एवं चन्द्ररूपी नेत्रवाले! आपके यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार होजाने पर क्या शोक-मोहमय संसारका तिरस्कार नहीं हो सकता? अर्थात् अवश्य ही हो जाता है।

मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवताऽवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर ! परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥ ५ ॥

हे परमेश्वर ! आप, मत्स्य, वराह आदि अनेक अवतारोंको धारण कर सदा इस धराधामकी रक्षा करते आये हैं। हे भगवन् ! मैं इस असार-संसारके त्रिविधतापोंसे भयभीत हुआ हूँ, इसलिये आपके द्वारा इस भयसे मैं अवश्य ही रक्षा करने के योग्य हूँ।

दामोदर ! गुणमन्दिर ! सुन्दरवदनारविन्द ! गोविन्द ! ।
भवजलधिमथनमन्दर ! परमं दरमपनय त्वं मे ॥ ६ ॥

हे दामोदर ! हे कल्याण-गुणोंके निधान ! हे सुन्दर-मनोहर मुखकमलवाले ! हे गोविंद ! हे संसाररूपी समुद्रके मथन करनेमें मन्दराचलके समान ! मेरे जन्ममरणरूप महान् संसारभयको आप कृपया दूर कीजिये ।

नारायण ! करुणामय ! शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥

हे करुणानिधान ! हे नारायण ! आपके चरणोंकी मैं शरण होता हूँ और यह षट्पदी-(छः पदों की स्तुतिरूपिणी भ्रमरी) स्तोत्र, मेरे मुखकमलमें सदा निवास करे।

॥ इति षट्पदीस्तोत्रंसमाप्तम् ॥

——:०:——

वेदसार–शिव-स्तव

पशूनां पतिं पापनाशं परेशं,
गजेन्द्रस्य कृत्तिं वसानं वरेण्यम् ।
जटाजूटमध्ये स्फुरद्गांगवारिं,
महादेवमेकं स्मरामि स्मरारिम् ॥ १ ॥

जो सम्पूर्ण जीवरूप-अज्ञानी पशुओंके पति–पालक हैं, एवं स्मरण मात्रसे पापोंके ध्वंस करनेवाले परमेश्वर हैं, जिनने श्रेष्ठ हाथीके चर्मको धारण किया है, एवं जो सबसे श्रेष्ठ हैं, जिनके जटाजूटके मध्यमें परमपावनी श्रीगंगाजीका जल सुशोभित हो रहा है। ऐसे कामदेवके शत्रु, एक-अद्वितीय देवोंकेदेव महादेवका मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ ।

महेशं सुरेशं सुरारार्तिनाशं,
विभुं विश्वनाथं विभूत्यंगभूषम् ।
विरूपाक्षमिन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रं,
सदानन्दमीडे प्रभुं पञ्चवक्त्रम् ॥ २ ॥

जो महान् ईश्वर, एवं देवताओंके भी ईश्वर हैं जो देवोंके कष्टको नाश करनेवाले, व्यापक, विश्वके स्वामी हैं, जिनने अपने प्रत्येक अङ्गोंमें विभूति-भस्मकी भूषा की है, जो विरूपाक्ष हैं यानी जिनके बिषम सूर्य चन्द्र एवं अग्निरूपी तीन नेत्र हैं, एवं जिनके

पाँच मुख हैं, ऐसे सदा आनन्दस्वरूप प्रभु श्रीविश्वनाथकी मैं स्तुति करता हूँ।

गिरीशं गणेशं गले नीलवर्णं,
गवेन्द्राधिरूढं गुणातीतरूपम्।
भवं भास्वरं भस्मना भूषितांगम्,
भवानीकलत्रं भजे पञ्चवक्त्रम् ॥ ३ ॥

जो कैलास-पर्वतके स्वामी एवं वीरभद्र आदि गणोंके भी स्वामी हैं, जिनके गलेमें नील वर्ण है, जो श्रेष्ठ श्वेत बैलके ऊपर आरूढ़ हैं, जिनका तीन गुणोंसे अतीतस्वरूप है, भस्मसे जिनके तमाम अङ्ग विभूषित हैं, जो प्रकाशस्वरूप हैं एवं तमाम संसारके उत्पादक हैं, ऐसे भगवती भवानीके पति, पाँच मुखवाले श्रीमहादेवको मैं भजता हूँ।

शिवाकान्त ! शम्भो ! शशांकार्धमौले !,
महेशान ! शूलिन् ! जटाजूटधारिन् !।
त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप !
प्रसीद प्रसीद प्रभो ! पूर्णरूप !॥ ४ ॥

हे पार्वतीके प्राणवल्लभ ! हे शम्भो ! हे मस्तकमें अर्धचन्द्रको धारण करनेवाले ! हे महेशान ! हे शूलको धारण करनेवाले ! हे विश्वरूप ! तुम ही इस जगत्में व्याप्त हो, हे प्रभो ! हे पूर्णरूप ! आप मुझपर प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये।

परात्मानमेकं जगद्बीजमाद्यं,
निरीहं निराकारमोङ्कारवेद्यम् ।
यतो जायते पाल्यते येन विश्वं,
तमीशं भजे लीयते यत्र विश्वम् ॥ ५ ॥

जिससे यह तमाम जगत् पैदा होता है, जिससे समग्र संसार की रक्षा होती है एवं अन्तमें निखिल विश्व जिसमें लीन होजाता है, ऐसा एक-अद्वितीय, जगत्का कारण, चेष्टारहित, निराकार, ॐकारसे जानने योग्य, परमात्मा महेश्वरको मैं भजता हूँ ।

न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायु,
र्न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा ।
न ग्रीष्मो न शीतं न देशो न वेषो,
न यस्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥६॥

उस व्यापक-परमतत्त्वरूप महादेवमें न पृथ्वी है, न जल है, न वह्नि है, न वायु है, न आकाश है, न तन्द्रा है, न निद्रा है, न ग्रीष्म (उष्ण-ऋतु) है, न शीत है, न देश है, एवं न तो किसी प्रकार का वेष है, यद्यपि उस निराकार तत्त्वकी वस्तुगत्या कोई भी मूर्ति नहीं है, तथापि प्रेमी-भक्तोंकी भावनासे जो ब्रह्मा विष्णु एव महेश्वर रूप तीन साकार मूर्तियोंसे प्रतीत होते हैं, ऐसे परात्पर महादेवकी मैं स्तुति करता हूँ ।

अजं शाश्वतं कारणं कारणानां,
शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।

तुरीयं तमःपारमाद्यन्तहीनं,
प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥७॥

जो अज (अजन्मा) हैं, शाश्वत (सनातन) हैं, महतत्त्व, प्रकृति आदि कारणोंके भी जो कारण हैं, सूर्यादि-प्रकाशकोंके भी जो प्रकाशक हैं, केवल कल्याण स्वरूप हैं, अवस्थात्रयके साक्षी जो तुरीय-आत्मा हैं, आदि और अन्तसे रहित हैं, अज्ञानसे भी अतीत हैं, एव जो द्वैतसे रहित, पर-सूक्ष्म, पवित्र-महादेवरूप तत्त्व हैं, उनके शरणमें मैं जाता हूँ।

नमस्ते नमस्ते विभो ! विश्वमूर्ते !,
नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते ! ।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य !,
नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ! ॥८॥

हे विभो ! (व्यापक-स्वरूप) हे विश्वमूर्ते ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। हे चिदानन्दमूर्ते ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। हे तप एवं योगरूपी साधनसे जानने योग्य ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है। हे श्रुतिके पवित्र ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है।

प्रभो ! शूलपाणे ! विभो ! विश्वनाथ !,
महादेव ! शम्भो ! महेश ! त्रिनेत्र ! ।
शिवाकान्त ! शान्त ! स्मरारे ! पुरारे !,
त्वदन्यो वरेण्यो न मान्यो न गण्यः ॥९॥

हे प्रभो ! हे हाथमें त्रिशूलको धारण करनेवाले ! हे विभो ! हे विश्वनाथ ! हे महादेव ! हे शम्भो ! हे महेश ! हे त्रिनेत्रधारी ! हे पार्वतीके प्राणवल्लभ ! हे शान्त ! हे कामदेवके शत्रु ! हे त्रिपुरासुरके शत्रु, आपसे और कोई भी देव श्रेष्ठ नहीं है, मानने योग्य भी नहीं है, एवं न तो सर्वेश्वर-कोटिमें गिनने योग्य है, यानी आपही सब देवोंसे श्रेष्ठ, एवं सबसे अधिक मान्य एवं गण्य हैं।

शम्भो ! महेश ! करुणामय ! शूलपाणे !,
गौरीपते ! पशुपते ! पशुपाशनाशिन् ! ।
काशीपते ! करुणया जगदेतदेकः,
त्वं हंसि पासि विदधासि महेश्वरोऽसि ॥१०॥

हे शम्भो ! हे महेश ! हे करुणाके महासागर ! हे शूलपाणे ! हे गौरीके पति ! हे जीवरूपपशुओंके पति ! हे पशुओंके अविद्यारूपी पाशके नाशक ! हे काशी नगरीके स्वामी ! आपही इस तमाम विश्वका अपनी अहैतुकी--दयासे नाश करते हैं, रक्षा करते हैं, एवं उत्पन्न करते हैं, इसलिये आप महान् ईश्वर हैं, यानी ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।

त्वत्तो जगद्भवति देव ! भव ! स्मरारे !,
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड ! विश्वनाथ ! ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश !,
लिङ्गात्मकं हर ! चराचरविश्वरूपिन् ! ॥११॥

हे हर ! हे चराचर-(स्थावर जंगम) विश्वरूप ! हे देव ! हे भव ! (संसारके उत्पादक) हे कामदेवके शत्रु ! यह समस्त संसार आपसेही उत्पन्न होता है । हे विश्वनाथ ! हे मृड ! (सुख-स्वरूप) आपमें ही यह तमाम विश्व आश्रित होकर रहता है । हे ईश्वर ! आपहीमें यह लिङ्गात्मक निखिल विश्व, महाप्रलय होनेपर लीन होजाता है ।

॥ इति वेदसार-शिव-स्तवंसमाप्तम् ॥

——:०:——

धन्याष्टकम्

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां,
तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सु निश्चितार्थम् ।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः,
शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्ति ॥ १ ॥

यथार्थज्ञान वही है, जो-चक्षुरादि इन्द्रियों चञ्चलताका शान्त करनेवाला है, यानी जिससे इन्द्रियोंकी विषयतृष्णाकी शान्ति न हो, वह यथार्थ ज्ञान नहीं है, ज्ञेय (जानने योग्य-तत्त्व) वही है, जो उपनिषदोंमें ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मश्रोत्रिय गुरुके द्वारा निश्चित किया गया है । धन्य वे ही हैं कि-जिन्होंने इस धराधाममें आकर परमार्थ-तत्त्वका पूर्णरूपसे निश्चय किया है । परिशिष्ट तो यानी

जिन्होंने परमार्थ-तत्त्वका निश्चय नहीं किया है, वे तो विपरीत भ्रमरूपी-भूलभुलैयेमें पडकर जन्म-मरणके कष्टमय चक्रमें सदा भ्रमण करते रहते हैं।

आदौ विजित्य विषयान्मदमोहराग-
द्वेषादिशत्रुगणमाहृतयोगराज्याः।
ज्ञात्वाऽमृतं समनुभूय परात्मविद्या-
कान्तासुखा वनगृहे विचरन्ति धन्याः॥ २॥

आदिमें शब्दादि-विषयोंको जीतकर जिन्होंने मद, मोह, राग, और द्वेष, आदि शत्रुओंके समुदायको राजयोगसे विनाश कर दिया है। अद्वैतरूपी अमृत-तत्त्वको सद्गुरुके द्वारा जान करके एवं उस तत्त्वका मनन निदिध्यासनके द्वारा अच्छी प्रकारसे अनुभव करके जो परमात्म-विद्यारूपी मनोहारिणी स्त्रीके साथ परमानन्दका आस्वादन करते हैं, और वनरूपी विशाल-गृहमें जो स्वच्छन्द एवं निर्भय होकर विचरते हैं, वे धन्य हैं।

त्यक्त्वा गृहे रतिमधोगतिहेतुभूता-
मात्मेच्छयोपनिषदर्थरसं पिबन्तः।
वीतस्पृहा विषयभोग-पदे विरक्ताः,
धन्याश्चरन्ति विजनेषु विरक्तसंगाः॥ ३॥

अधोगतिका कारण जो मोह-ममतास्पद गृहमें प्रीति है, उसका परित्याग करके एवं आत्म-तत्त्वके साक्षात्कारकी प्रबल-इच्छा करके,

जो उपनिषदोंके अद्वैत-तत्त्वज्ञानरूपी सर्वमधुरातिशायी अखण्डानन्दमय रसका अहर्निश पान करते हैं। एवं जो संसारके भोग विलासोंकी स्पृहासे रहित हैं यानी जो पूर्ण निस्पृह हैं, विषय-भोगोंसे नितान्त विरक्त हैं और जो संसार-संग रहित पवित्र निर्जन स्थानमें विचरते हैं, वे धन्य हैं।

त्यक्त्वा ममाहमिति बन्धकरे पदे द्वे,
मानावमानसदृशाः समदर्शिनश्च।
कर्तारमन्यमवगम्य तदर्पितानि,
कुर्वन्ति कर्मपरिपाकफलानि धन्याः ॥ ४ ॥

अहं (मैं) मम (मेरा) ये दोनों पद ही बन्धन करनेवाले हैं, उनका परित्याग करके जिन्होंने मान एवं अपमानको समान जान लिया है, और जो तमाम चराचर विश्वमें एकमात्र अद्वैत-ब्रह्मरूप समतत्त्वको ही देखनेके स्वभाववाले हैं। आत्मासे अन्य देह-इन्द्रियादि अनात्माको ही जो कर्ता समझते हैं और उनसे किये हुए कर्मके फलोंको उन्हींके अर्पण करते हैं, यानी जो अपने आत्माको अकर्ता एवं अभोक्ता निश्चय करते हैं, वे धन्य हैं।

त्यक्त्वैषणात्रयमवेक्षितमोक्षमार्गा,
भैक्षामृतेन परिकल्पितदेहयात्राः।
ज्योतिः परात्परतरं परमात्मसंज्ञं,
धन्या द्विजा रहसि हृद्यवलोकयन्ति ॥ ५ ॥

लोकेषणा, पुत्रेषणा, और धनेषणा इन तीन एषणा-(कामना) ओंका परित्याग करके जिन्होंने भक्ति-वैराग्य एवं ज्ञानरूपी मोक्ष

मार्गका अच्छी तरहसे परिचय प्राप्त किया है। भिक्षारूपी अमृतसे जो अपने शरीरका निर्वाह करते हैं। पर जो हिरण्यगर्भ है, उससे भी पर, जिसका नाम परमात्मा है, उस स्वयंज्योति–तत्त्वका सदा जो द्विज (दो संस्कारोंसे युक्त) हृदयरूपी एकान्त–देशमें अवलोकन करते हैं, वे धन्य हैं।

नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु,
न स्त्री पुमान्न च नपुंसकमेकबीजम्।
यैर्ब्रह्म तत्समनुपासितमेकचित्तै-
र्धन्या विरेजुरितरे भवपाशबद्धाः ॥ ६ ॥

जो ब्रह्मतत्त्व असत्–शशशृङ्गके समान नहीं है, एवं जो सत्–सत्त्वधर्मसे युक्त भी नहीं है, और विरुद्ध होनेसे सत् असत्-उभयरूप भी नहीं है, एवं जो महान् यानी महत्परिमाणसे युक्त नहीं है, न तो अणु है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है यानी वह ब्रह्मतत्त्व सकल-सांसारिक-धर्मोंसे अतीत है। जो तमाम विश्वका एकमात्र कारण है, आश्रय है। ऐसे ब्रह्मतत्त्वकी जिन्होंने एकाग्र एवं अनन्य चित्त होकर उपासना की है, वे ही धन्य हैं और तमाम विश्वमें वे ही शोभा पाते हैं, दूसरे यानी जिन्होंने ब्रह्मोपासना नहीं की है, वे संसाररूपी कष्टप्रद पाशमें बँधे हुए हैं, अपने ही प्रमाद से स्वयं आप दुःखी होरहे हैं।

अज्ञानपंकपरिमग्नमपेतसारं,
दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम्।

संसारबन्धनमनित्यमवेक्ष्य धन्या,
ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिश्चयन्ति ॥ ७ ॥

अज्ञानरूपी कीचड़से भरा हुआ, सार-रहित, दुःखोंका स्थान, जन्म मरण और वृद्धावस्थासे युक्त, संसाररूप बन्धनको अनित्य-क्षणभङ्गुर निश्चय करके, जो ज्ञानरूपी तलवारसे संसार-बन्धनको काटकर परम-तत्त्वका सुदृढ़ निश्चय करते हैं, यानी उस परतत्त्वमें अपनी बुद्धिको स्थिर रखते हैं, वे धन्य हैं।

शान्तैरनन्यमतिभिर्मधुरस्वभावै-
रेकत्वनिश्चितमनोभिरपेतमोहैः।
साकं वनेषु विजितात्मपदस्वरूपं,
तद्वस्तु सम्यगनिशं विमृशन्ति धन्याः ॥ ८ ॥

अनन्य यानी एक आत्मासे अतिरिक्त-अन्यविषयमें नहीं जानेवाली बुद्धिसे युक्त, शान्त यानी रागद्वेषसे रहित, मधुर-विनयशील स्वभाववाले, जिसके मनमें अद्वैत-तत्त्वका ही निश्चय है, एवं जो संसारके सकल मोहसे रहित हैं, ऐसे सज्जन-महात्माओंके साथ शान्त पवित्र जंगलोंमें स्वस्वरूप आत्म-तत्त्वका निश्चय करके जो अहर्निश उसी ही आत्म-वस्तुका एकाग्र-चित्तसे चिन्तन करते हैं, वे धन्य हैं।

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः,
कुणपमिव सुनारीं त्यक्तुकामो विरागी।

विषमिव विषयान्यो मन्यमानो दुरन्ता-
ञ्जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति ॥ ९ ॥

(मालिनी-वृत्तम्)

जो सांसारिक-विषय-लम्पट मनुष्यों के संगको 'भयंकर सर्पके समान' सर्वदा छोड़ देता है। जो सुन्दरी युवति-नारीकी 'घृणास्पद-मृतक शरीरके समान' उपेक्षा कर विषय-लालसासे विरक्त होता है। जो शब्दादि विषयोंकी आसक्ति को परिणाममें दुःख एवं शोकप्रद समझकर 'हलाहल-विषके समान' उससे उपराम होता है। ऐसा जो परमहंस-संन्यासी है, वही अखण्ड-जयको प्राप्तकर मुक्ति-भाव (परमपद) को प्राप्त होता है।

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः,
गांगं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी,
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥ १० ॥

अनन्त—अखण्ड-अद्वय-आत्मस्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर उस महापुरुषके लिये सम्पूर्ण जगत् नन्दनवनके समान पूर्ण-प्रसन्नतासे भरा हुआ होजाता है, तमाम वृक्ष, कल्पवृक्षके समान आनन्दप्रद होजाते हैं, सकल-जल-समुदाय गंगा-जलके समान पवित्र होजाता है, उठना-बैठना आदि तमाम क्रियाएँ पुण्य-मय होजाती हैं, प्राकृत, (हिन्दी आदि) संस्कृत, आदि वाणी, वेद—वाणीके

समान हर्षप्रद बन जाती हैं, विशेष क्या कहें ? इस विद्वान् विरक्त सत्पुरुषकी तमाम अवस्थिति, परब्रह्ममय ही होजाती है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्'। ॥ इति धन्याष्टकं समाप्तम् ॥

परा-पूजा

अखण्डे सच्चिदानन्दे, निर्विकल्पैकरूपिणि।
स्थितेऽद्वितीयभावेऽस्मिन्कथं पूजा विधीयते ॥ १ ॥

जो अखण्ड, सच्चिदानन्द, एकमात्र-निर्विकल्प स्वरूप है एवं जो सर्वदा अद्वितीयभावसे ही वर्तमान है, यानी जिसमें द्वैतभावका कदापि गंध ही नहीं है, उसकी पूजा कैसे की जाय ? अर्थात् पूजा द्वैत-भाव (पूज्य-पूजकभाव) होने पर ही हो सकती है, अद्वैत-तत्त्वमें पूज्य पूजक एवं पूजारूपी त्रिपुटीका अत्यन्ताभाव है, इसलिये अद्वैत-तत्त्वकी पूजा कौन सामग्रीसे होवे ?

पूर्णस्याऽऽवाहनं कुत्र, सर्वाधारस्य चासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च, शुद्धस्याचमनं कुतः ॥ २ ॥

सबमें पूर्ण-सर्वव्यापक परमात्माका आवाहन (बुलाना) कहांसे हो ? यानी जो किसी स्थान पर हो, और किसी स्थानपर न हो, उसका आवाहन हो सकता है, परन्तु जो सभी स्थानोंमें परि-पूर्ण व्यापक है, उसका आवाहन कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। तथा सर्वाधारको आसन कैसा ? अर्थात् बैठनेवालेके लिये आसन बैठनेको दिया जाता है, परन्तु परमात्मा न तो कभी बैठता

है, एवं न कभी उठता है, जो उठने-बैठनेवाला होता है, वह सबका आधार नहीं हो सकता, अतः सर्वाधार-प्रभुको आसन किसका एवं कैसे दिया जाय ? । जो सर्वदा स्वच्छ और निर्मल है, उसके लिये पाद्य और अर्घ्यकी आवश्यकता क्या है ? अर्थात् पाद्य और अर्घ्य स्वच्छ करनेके लिये दिये जाते हैं, जो नित्य स्वच्छ है, जिसमें मलिनताका नामनिशान, भी नहीं है, उसको पाद्य और अर्घ्य क्या करेंगे ? जो सर्वदा शुद्ध-पवित्र है, उसे आचमनसे क्या प्रयोजन ? यानी आचमन शुद्धिके लिये दिया जाता है, जो कभी अशुद्ध ही नहीं, उसको आचमन क्या करेगा ? ।

निर्मलस्य कुतः स्नानं, वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
अगोत्रस्य त्ववर्णस्य, कुतस्तस्योपवीतकम् ।। ३ ।।

जो सर्वदा निर्मल है, उसको स्नानसे क्या प्रयोजन ? यानी मल-शुद्ध्यर्थ स्नान कराया जाता है, जो मल-रहित है, उसको स्नान करानेसे क्या लाभ ? कुछ नहीं। जिसके उदरमें तमाम विश्व निहित है, उसे वस्त्र से क्या मतलब ? यानी वस्त्र शरीरके आच्छादनार्थ होता है, जिसने तमाम ब्रह्माण्डको आच्छादित कर रक्खा है, उसके लिये वस्त्र कहांसे हो ? एवं कैसे हो ? । जो गोत्र एवं वर्णसे रहित है, उसे यज्ञोपवीत-जनेऊके परिधानसे क्या लाभ ? कुछ भी नहीं। यानी जिसका ब्राह्मणादि वर्ण है एवं वसिष्ठादि गोत्र है, उसका ही यज्ञोपवीतधारणमें अधिकार है। और यज्ञोपवीत

देव-पूजाके लिये पहिना जाता है, देव-पूजा वही करता है कि-जिसे किसी वस्तुकी इच्छा है, जो इच्छारहित है, उसके लिये देव पूजा क्यों ? जब गोत्र, वर्ण एवं देव-पूजा ही नहीं, तब यज्ञोपवीतसे प्रयोजन भी क्या है ?।

निर्लेपस्य कुतो गन्धः, पुष्पं निर्वासनस्य च ।
निर्विशेषस्य का भूषा कोऽलङ्कारो निराकृतेः ॥ ४ ॥

निर्लेपके लिये गन्ध कैसा ? यानी अगरादिका गंध प्रसन्नताके लिये दिया जाता है, जिसमें अप्रसन्नताका लेश-मात्रभी सम्बन्ध नहीं है, उसको गंधसे क्या प्रयोजन ? यानी जिसको सुगन्धिकी वासना (अभिलाषा) है, वह पुष्पों को सूँघता है, जो सर्व-अभिलाषा-ओंसे रहित है, उसको पुष्प-सेवनसे क्या मतलब ?। निर्विशेषकी वेष-भूषा कैसी ? यानी जिसमें जाति,गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि विशेष धर्म होते हैं, वह वेष-भूषाको धारण कर सकता है, जिसमें जात्यादि-विशेष है ही नहीं, उसके लिये वेष भूषा क्यों होगी ? इसप्रकार निराकारका अलंकार कैसे हो ? यानी अलंकारसे साकार वस्तु शोभा पाती है, जिसका आकार ही नहीं, जो निराकार है, उसमें अलंकार कहाँ रहे और कैसे रहे ?।

निरञ्जनस्य किं धूपै-र्दीपैर्वा सर्वसाक्षिणः ।
निजानन्दैकतृप्तस्य, नैवेद्यं किं भवेदिह ॥ ५ ॥

जो निरञ्जन है, उसको धूपसे क्या प्रयोजन ? यानी जिसमें किसी भी प्रकारका अञ्जन (काला-अन्धकार) नहीं है, उसमें धूपरूपी अञ्जन कैसे हो ? एवं क्यों हो ? जो सर्वका साक्षी प्रकाशक है, जिसको प्रकाशान्तरकी अपेक्षा ही नहीं, उसको दीपकोंसे क्या प्रयोजन ? अर्थात् जो सूर्यादि तमाम ज्योतियोंका प्रकाशक है, उस स्वतःसिद्धका प्रकाशक और कौन हो सकता है ?। जो निजानन्दसे सदा पूर्ण तृप्त है, अपने कृपा-कटाक्षसे ही जो तमाम ब्रह्माण्डको तृप्त करता है, उसको नैवेद्यसे क्या प्रयोजन ? यानी नैवेद्य तृप्तिके लिये होता है, सदा पूर्ण-तृप्त के लियेतृ प्ति की क्योंकर अपेक्षा हो ? जब अतृप्ति ही नहीं तब नैवेद्य भी व्यर्थ है।

विश्वानन्दयितुस्तस्य, किं तांबूलं प्रकल्प्यते ।
स्वयंप्रकाशश्चिद्रूपो, योऽसावर्कादिभासकः ॥ ६ ॥

जो सूर्यादि तमाम ज्योतियोंका भासक, स्वयं-प्रकाश ज्ञानस्वरूप है, एवं तमाम विश्वको आनन्द देने वाला है, उसको ताम्बूल (पान) की क्या आवश्यकता है ? यानी ताम्बूलसे मुख-शुद्ध एवं देह पुष्ट होता है, जो सर्वदा शुद्ध पुष्ट एवं आनन्दस्वरूप है, जिसका छोटा सा मुख एवं देह नहीं है, उसको ताम्बूलसे क्या प्रयोजन ? कुछ नहीं।

प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य, ह्यद्वयस्य कुतो नतिः ।
वेदवाक्यैरवेद्यस्य, कुतः स्तोत्रं विधीयते ॥ ७ ॥

अनन्तकी प्रदक्षिणा (चारों तरफ घूमना) किस प्रकार हो सकती है, यानी जिसका अन्त है और जिसके आस-पास फिरनेके लिये कुछ स्थान खाली है, जो छोटा-सा है, उसकी प्रदक्षिणा हो सकती है, जिसका अन्त नहीं, जो परिच्छिन्न (छोटा-सा) नहीं, किन्तु जो व्यापक-सर्वात्मा है, उसकी प्रदक्षिणा नहीं हो सकती। अद्वय (द्वितीय-रहित) को नमस्कार कैसे हो ? यानी नमस्कार दूसरे को किया जाता है, परमात्मा एक है और द्वैतशून्य है, जिसमें द्वितीय-भावका अत्यन्ताभाव है, यानी स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेदका अभाव है, उस अभेद-तत्त्वको नमस्कार कैसे हो ? अर्थात् नहीं हो सकता। जो वेद वाक्योंसे अवेद्य है-जाना नहीं जाता, उसकी स्तुति किस प्रकार हो ? अर्थात् स्तुति उसकी हो सकती है कि—जो तत्त्व जाननेमें आता है, जिसमें नाम, रूप, गुण, क्रिया, जाति एवं संबन्ध है, परमात्मा फलव्याप्तिसे नहीं जाना जाता, उसमें नामादि वस्तुगत्या हैं ही नहीं, अतः वह स्तुतिका विषय कैसे हो ? अर्थात् नहीं हो सकता।

स्वयंप्रकाशमानस्य, कुतो नीराजनं विभोः।
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य, कथमुद्वासनं भवेत् ॥ ८ ॥

स्वयंप्रकाश-व्यापक तत्त्वका नीराजन (दीपादिकोंसे आरती) कैसे ? यानी आने-जानेके लिये एवं प्रकाशके लिये नीराजन किया जाता है, जो न कभी आता है, न जाता है, एवं जिसके पास अन्धकार फटकता तक नहीं, उसे नीराजनकी क्या आवश्य-

कता ? बाहर और भीतर जो ठसाठस भरा हुआ है, उसका उद्वासन (विसर्जन) किस प्रकार हो ? अर्थात् विसर्जन, परिच्छिन्न व्यक्तिका होता है, जो पूर्ण है, उसका विसर्जन कैसे ? अर्थात नहीं हो सकता।

एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा।
एकबुद्ध्या तु देवेशे, विधेया ब्रह्मवित्तमैः ॥ ९ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंको एक-(भेद-भावरहित) बुद्धिसे देवेश-परमात्माकी इसप्रकार परा-पूजा सब अवस्थाओं में हमेशा करनी चाहिये।

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्,
पूजा ते विविधोपभोगरचना, निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारस्तु पदोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो,
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम् ॥१०॥

हे शम्भो ! हे महादेव ! आप मेरी आत्मा हैं, यानी आपसे मैं पृथक् नहीं हो सकता। मेरी विशुद्ध बुद्धि, गिरिजा-पार्वती देवी है। मेरे प्राण, साथ रहनेवाले गण हैं। यह शरीर शिव-मंदिर ही है। विविध शब्दादि विषयोंका सेवन करना आपकी ही पूजा है। निद्रा समाधि अवस्था है। पाँवोंसे घूमना फिरना आपकी प्रदक्षिणा ही है, और तमाम वाणियाँ आपको प्रसन्न करनेवाले स्तोत्र ही हैं। एवं मैं जो जो कुछ कर्म करता हूँ, वह सब आपका ही एकमात्र परम-पावन आराधन है।

प्रश्न—इसप्रकार जब नित्यतृप्त, पूर्णकाम, सर्व-व्यापक, स्वयंप्रकाश अनन्त, निराकार, परमात्माकी पूजा नहीं हो सकती है, तब शास्त्रमें धूप-दीपादि सामग्रियोंके द्वारा पूजाका विधान क्यों किया है? पूजासे परमात्मा प्रसन्न तो नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो सर्वदा प्रसन्न ही है, अप्रसन्नके लिये प्रसन्नताकी आवश्यकता होती है, अत एव सदाप्रसन्न परमात्मा अपनी पूजाके द्वारा प्रसन्नता की क्योंकर अपेक्षा करने लगे?

उत्तर—यद्यपि निराकारकी स्थूल-पूजा नहीं हो सकती है, तथापि साकार प्रभुकी स्थूल-पूजा हो सकती है। प्रेमी-भक्तोंकी भावनासे निराकार ही साकाररूपसे प्रतीत होता है। यद्यपि साकार-रूप शाश्वत नहीं है, तथापि वह निराकार की प्राप्तिमें अवलम्बन-साधन होसकता है, बहिर्मुख चित्त, साकार-पूजाकी भावनासे प्रभुमय हो जाता है, इसलिये साकार-पूजाका विधान सफल है, एवं आवश्यक है।

पूजासे ईश्वर-प्रसन्नताके विषयमें एक भक्त और अभक्त की, इसप्रकार बातें हुई—

अभक्त—(भक्तको शिवालयसे पूजा करके निकलता देखकर) आप फूल-चन्दन आदि ले गये थे, उनको कहाँ फैंक आये?

भक्त—भाई! श्रीशिवजी महाराजके ऊपर चढ़ा आया हूँ।

अभक्त—क्या उससे शिवजी प्रसन्न हुए?

भक्त—भाई! शिवजी महाराज की प्रसन्नता जानने के लिये मेरी सामर्थ्य नहीं है, परन्तु मैं तो पुष्पादिसे शिव-पूजन करके परम प्रसन्न हुआ हूँ, यह प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार भक्तकी मार्मिक बातें सुनकर अभक्त लज्जित होकर चला गया। जो जो कुछ पुष्पादि, पूजक, पूज्य भगवान् को समर्पण करता है, उसका फल पूजकको ही मिलता है, श्रीमद्भागवतमें कहा है—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो,
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं,
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥

(भा. ७।९।११)

यद्यपि पूर्ण-परमात्मा, दीन-हीन-अज्ञानी मनुष्यसे अपने-लिये मान-प्रतिष्ठाकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह निरिच्छ एवं स्वलाभसे सर्वदा संतुष्ट है, तथापि प्रभुभक्त परमात्माके उद्देशसे जो-जो कुछ पूजा-मान-प्रतिष्ठा आदि करता है, उसके फलका भागी आप ही स्वयं बनता है। जैसे बिम्बको समर्पण किया हुआ पदार्थ प्रतिबिम्बको अनायाससे ही प्राप्त होजाता है, तद्वत् ईश्वरबिम्ब है और जीव उसका प्रतिबिम्ब है, इसलिये ईश्वर पूजाका फल जीवको ही अनन्तगुणा होकर मिल जाता है।

—:o:—

वैराग्य--पञ्चकम्

अवतरणिका

मोक्ष-प्राप्तिमें वैराग्य अन्तरंग एवं आवश्यक साधन माना गया है, उसका महत्त्व सर्वत्र प्रसिद्ध है। वैराग्य विना केवल ज्ञान, भाररूप है। गुंसाईजीने क्या ही अच्छा कहा है—

बाद बसन बिनु भूषण भारू,

बाद बिरति बिनु ब्रह्मविचारू।

वैराग्यसे ही परमार्थ-वस्तु का लाभ होता है। वैराग्यका इतना महत्त्व मानते हुए भी साधन-कालमें शरीरका महत्त्व भी कोई भूल नहीं सकता। शरीरके द्वारा ही मनुष्य, विवेकादि विविध साधनोंको प्राप्तकर परमार्थ-वस्तुकी ओर अग्रसर होता है।

शास्त्रमें कहा है—

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, आदि धर्मका आद्य-प्रधान साधन शरीर है। अतएव धर्म प्राप्तिके लिये शरीर-रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है। शरीर-रक्षा, अन्न-वस्त्र आदि से होती है। इसलिये उदरपूर्तिकी चिन्ता मनुष्यको संसारसे पृथक् नहीं होने देती। इस बहानेसे संसारियोंकी मुलाकात एवं सब प्रकारके राग भी उसके पीछे पड़ जाते हैं। ऐसी विकट-अवस्थामें वैराग्य-प्राप्ति, अत्युन्नत-पर्वतके समान दुर्गम-सी प्रतीत होने लगती है?

वैराग्य न होनेका दूसरा कारण ईश्वरमें श्रद्धाका अभाव भी है। श्रद्धालु मनुष्य, श्रद्धाके प्रभावसे विपत्ति-आदि कठिन प्रसंगोंमेंभी वैराग्य धारणकर निर्मोही रह सकता है। इसलिये प्रस्तुत वैराग्य-पंचकमें बड़ी जोरदार भाषासे वैराग्यके-निश्चिन्तपना एवं ईश्वरश्रद्धा-इन दोनों साधनों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। अन्न-वस्त्रकी चिन्ता ही राग-रूपी किलेके प्रवेशका प्रधान द्वार है, वैराग्य पंचकके प्रथम श्लोकमें इस चिन्ताका निवारण किया है—

शिलं किमनलं भवेदनलमौदरं बाधितुम्,
पयः प्रसृतिपूरकं किमु न धारकं सारसम्।
अयत्नमलमल्पकं पथि पटच्चरं कच्चरम्,
भजन्ति विबुधा मुधा अहह कुक्षितः कुक्षितः ॥ १ ॥

उदर-पूर्तिके लिये शिल-वृत्ति यानी खेतोंमेंसे बीन कर लाये हुए अनाजके दाने क्या पर्याप्त नहीं हैं?। प्राचीन कालमें कल्याण पथ-पथिक ऋषि-मुनि गण (किसान लोग जब खेतोंसे अनाज ले जाते थे तब) बचे हुए या जमीनपर गिरे हुए दाने बीनकर उनसे अपना निर्वाह करते थे। इस प्रकारका निर्वाह अत्यन्त निर्दोष है। अथवा इसीके समान किसी अन्य माधुकरी भिक्षा वृत्तिसे भी विना विशेष प्रयासके, उदर-पूर्ति हो सकती है, इस प्रकार शरीर-निर्वाहके लिये किसीको कष्ट नहीं पहुँचसकता। और साधक निश्चिन्त भी रह सकता है। तालावका स्वच्छ-जल अंज-

लीसे पी लिया जाय तो क्या प्यास नहीं बुझ सकती ? यानी जलके लिये तालाव भरे पड़े हैं और पात्रके लिये हाथ हैं ही। यह हुई अन्न-जलकी व्यवस्था। मार्गमें पड़े हुए फटे-पुराने कपड़ेके टुकड़े या अंग-रक्षाके लिये पर्याप्त नहीं हैं? यानी निरुपयोगी समझकर फेंक दिये गये फटे-पुराने वस्त्र स्वच्छ कर कौपीनके लिये अच्छा काम दे सकते हैं, और शीत निवारणके लिये उनकी गुदड़ी (कन्था) भी अच्छी बन सकती है। इसप्रकार प्रयास-रहित निर्दोष अन्न-वस्त्रादिके प्रबन्धसे आवश्यक शरीर-रक्षा अच्छी तरहसे हो सकती है। परन्तु बड़े ही खेद एवं लज्जाकी बात है कि—विद्वान् लोग व्यर्थ ही उदर-पूर्तिके लिये राजाओंकी या मालदार लोगोंकी खुशामद करते हैं। संसारके मिथ्या क्षण-भंगुर एवं क्लेशप्रद भोगोंके लिये जो लोग, धनी-लोगोंकी तनतोड़ सेवा करते हैं, उनको देखकर विवेकी विरक्तको अफसोस नहीं तो और क्या हो सकता है ?।

* श्रीमद्भागवतमें भी इसप्रकार कहा है—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां,

* अंगरक्षाके लिये क्या मार्गमें पड़े हुए फटे-पुराने वस्त्रोंके टुकड़े नहीं हैं ? उदर-पूर्तिके लिये क्या वृक्ष, फलफूलादि की भिक्षा नहीं देते हैं ? प्यास बुझानेके लिये क्या परोपकारिणी नदियाँ सूख गई हैं ? यानी उनसे पीनेका जल नहीं मिल सकता है ? निवासके लिये क्या पर्वतकी गुफाएँ बंद हो गई हैं'' विजयशाली परमात्मा क्या अपने अनन्यशरणागत भक्तोंकी रक्षा नहीं करता है ? यानी अवश्य करता है, तब विद्वान् विरक्त लोग धनके मदसे अन्धे बने हुए मालदारोंकी क्यों खुशामद करेंगे ? अर्थात् नहीं करेंगे।

नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्,
कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥

(२।२।५)

× × × ×

अन्न-वस्त्रके अलावा मनुष्यको और भी ऐसी आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्तिके लिये धनकी आवश्यकता मानी जाती है। इसलिये अन्न-वस्त्रकी कमी न होते हुए भी धन-प्राप्तिके लिये धनी लोगोंके आगे दीन होना अपरिहार्य है, ऐसी शंकाके समाधानके लिये-आचार्य द्वितीय श्लोक लिखते हैं—

दुरीश्वर-द्वार-बहिर्वितर्दिका-
दुरासिकायै रचितोऽयमञ्जलिः ।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति नो
धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम् ॥ २ ॥

घमण्डी-उन्मत्त-धनपतियोंके गृहकी डयोढ़ी पर धनाभिलाषा रखकर दीन होकर बुरी तरहसे बैठनेके लिये मैं अब अंजली बाँधकर नमस्कार करता हूँ, यानी अब मैं ऐसी दीनता स्वीकार कर कभी भी वैसे बैठ नहीं सकता। यद्यपि अन्न-वस्त्रके अतिरिक्त भी ऐसी कुछ आवश्यकताएँ धनसे पूर्ण हो सकती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं, तथापि उस धनके उपार्जनके लिये मृत्युकी सहोदरी अतिकष्टप्रद दीनता स्वीकारनी पड़ती है। फिर भी सब प्रकारकी

आवश्यकताएँ दूर करनेकी सामर्थ्य धनमें कहाँ है ? धन-प्राप्तिके साथ अनेक प्रकारके अनर्थ खडे हो जाते हैं, जिससे मनुष्यका जीवन संकटमय हो जाता है, इसलिये प्रभु-भक्त लौकिक-धनकी आशा नहीं करता । वह तो कहता है कि–अर्जुनके रथकी शोभा बढ़ानेवाला भक्तवत्सल श्यामसुंदर-प्रभु भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरा अक्षय्य, आनन्दप्रद एवं अनन्त, धन है । वही गोपियोंका प्यारा, भक्तोंके नयनोंका तारा, श्रीकृष्ण ही सबसे बड़ा धनी है, जिसकी थोड़ी-सी कृपा-लाभ होने पर भक्तको किसीके आगे दीन नहीं होना पड़ताहै। लौकिक-तुच्छ धनके प्राप्त होने पर मोह बढ़ता है, परन्तु श्री कृष्णरूपी धनके लाभसे मोह हजारों कोस दूर भाग जाता है । लौकिक-धनसे बुद्धि मलिन होती है, और श्रीकृष्णरूपी धनसे बुद्धि निर्मल होती है । अर्थात् लौकिक-धन दूषणरूप है, और ईश्वर-भक्तिरूपी धन भूषणरूप है, इसलिये विवेकी विरक्त, अलौकिक-दिव्य-धनको छोड़कर लौकिक तुच्छ धनके पीछे क्यों पड़ेगा अर्थात् कदापि नहीं पड़ेगा ।

× × × ×

आगेके दो श्लोकोंमें लौकिक धन और परमात्मारूप धनकी-तुलना करके लौकिक-धनकी अत्यन्त क्षुद्रता एवं दुःखरूपता और परमात्मरूपी धनकी सर्वतोपरि विशालता एवं सुखरूपता आचार्य प्रतिपादन करते हैं–

काचाय नीचं कमनीयवाचा,
मोचाफलस्वादमुचा न याचे ।

दयाकुचेले धनदत्कुचेले,

स्थिते कुचेले श्रितमाकुचेले ॥ ३ ॥

जिस प्रभुके आगे धनपति कुबेर भी एक तुच्छ दरिद्रीके समान होजाताहै, ऐसे क्षीरसागरशायी दयासिन्धु भगवान् लक्ष्मीपतिके होने पर एक कांचके टुकड़ेके समान क्षुद्र-धनके लिये (केलेकी मिठास जिसके आगे फीकी पड़ जाती है ऐसी) खुशामदसे भरी हुई मधुरवाणीके द्वारा किसी धनीसे अब मैं याचना नहीं कर सकता । अर्थात् जिसने विश्वंभर भगवान्का सुदृढ़ आश्रय लिया है, उसको व्यावहारिक आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं, देहनिर्वाहकी उसे चिन्ता ही नहीं रहती ।

कहा है—

भोजनाच्छादने चिन्तां, वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
योऽसौ विश्वंभरो देवः, स किं भक्तानुपेक्षते ॥

(पाण्डवगीता)

भगवान् की भक्तके लिये दृढ़प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(भगवद्गीता ९।२२)

भक्तोंका योग-क्षेम भगवान् ही स्वयं वहन करते हैं । अप्राप्त-वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है, और प्राप्तवस्तु की रक्षाका नाम क्षेम

है। भगवान्‌रूप अनन्त एवं अक्षय्य अमूल्य रत्नकी अपेक्षासे लौकिक धन कांचके टुकड़ेके समान तुच्छ है। इसलिये ऐसा कौन विवेक विचारशील होगा कि-जो ऐसे महान् धनके विद्यमान होने पर भी एक क्षुद्र धनके लिये किसी दुनियादारकी खुशामद करेगा ?।

× × × ×

लौकिक धन, इस प्रकार तुच्छ होते हुए भी धनी मनुष्य कैसे निष्ठुर एवं घमण्डी हैं, और भगवान् कैसे भक्तवत्सल एवं दयालु हैं, इस विषयको आगेके श्लोकमें आचार्य बतलाते हैं—

क्षोणीकोणशतांशपालनखलद्दुर्वारगर्वानल-
क्षुभ्यत्क्षुद्रनरेन्द्रचाटुरचनां धन्यां न मन्यामहे।
देवं सेवितुमेव निश्चिनुमहे योऽसौ दयालुः पुरा,
धानामुष्टिमुचे कुचेलमुनये धत्ते स्म वित्तेशताम् ॥ ४ ॥

पृथ्वीके एक छोटे-से कोणके सौवें हिस्सेके एक छोटे-से टुकड़े पर अधिकार प्राप्त होने पर, जो दुर्वार-गर्वरूपी अग्निसे सदैव जलता रहता है, यानी प्रभुताके घमण्डसे बात-बात पर जो अभिमान एवं क्रोध करता रहता है। प्रभु-भक्तको छोड़कर प्रभुता प्राप्त होने पर गर्व किसीको नहीं होता ? फिर बहिर्मुख विषय-लम्पट राजाओंमें अभिमान एंव क्रोध होना कौन-सी अद्भुत बात है ? अभिमानसे मनुष्य अन्धा होता है, परन्तु लोभसे मनुष्य दूना अन्धा होता है, पापका पिता लोभ ही तो है, लोभी मनुष्य क्या नहीं करता ? 'राजा अगर किसी साधारण-

बात पर भी नाराज़ हो जाय तो करी-करायी सेवा-बन्दगी एक मिनिटमें ही मटियामेट हो जायगी' ऐसा जानते हुए भी धनके लोभी विषय-लम्पट मनुष्य, रात्रिदिन उसकी स्तुति प्रशंसा करनेमें ही लगे रहते हैं, एवं उसीमें ही अपने को धन्य मानते हैं, फूले नहीं समाते हैं। प्रभुभक्त कहता है कि-अब मैं ऐसे विषयी-पामर-राजाओंकी चापलूसी करनेमें धन्यता नहीं मानता एवं उससे मैं अपनेको धन्य भी नहीं समझता। मैंने तो अब उसी कृपानिधान भगवान्‌की सेवा करनेके लिये निश्चय किया है कि-जिस दयालुने एक मुट्ठी भर चावल ही से प्रसन्न होकर दरिद्री सुदामा-भक्तको कुबेरके समान ऐश्वर्यसम्पन्न बना दिया था। भगवान्‌को भक्त कितना प्यारा होता है, उस बातको केवल भगवान्‌का हृदय ही जानता है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे क्या ही अच्छा कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं, साधूनां हृदयं त्वहम्।
* मदन्यत्ते न जानन्ति, नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(९।५।६८)

---

* साधुस्वभाववाले निष्कपटचित्तवाले मेरे भक्त, मेरा हृदय हैं, यानी हृदयके समान वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं। और उन भक्तोंका हृदय मैं हूँ, यानी उनको एकमात्र मैं ही प्यारा हूँ। जब वे मुझसे अलावा किसीको नहीं जानते हैं तो मैं भी मेरे भक्तोंसे अलावा किसीको थोड़ा-सा भी नहीं जानता हूँ, मेरे भक्त और मैं भक्तोंका।

भक्त पर भगवान् का रुष्ट होना न किसीने देखा न सुना। भगवान् तो भक्तों पर सदैव प्रसन्न ही रहते हैं, सामान्य-सेवाका भी महान् फल देदेते हैं। इसलिये अपना परमकल्याण चाहनेवालेको चाहिये कि-सब तरफसे अपने मनको हटाकर एकमात्र उस दयानिधि भगवान् की ही सेवामें मनको जोड़ दिया जाय।

× × × ×

अब आचार्य, चतुर्थ श्लोकका भाव दृढ़ करनेके लिये, पुनः लौकिक-धनकी दुःसाध्यता एवं क्षणभंगुरता तथा पारमार्थिक-प्रभु-धनकी सुगमता एवं अक्षय्यता दिखाते हैं--

शरीरपतनावधि प्रभुनिषेवणापादना-
दबिन्धनधनंजयप्रशमदं धनं दन्धनम्।
धनञ्जयविवर्धनं धनमुदूढगोवर्धनं,
सुसाधनमबाधनं सुमनसां समाराधनम् ॥५॥

शरीरपातपर्यन्त मालदार लोगोंकी तन-तोड़ सेवा करने पर भी उससे केवल क्षुधाकी शान्ति करनेवाला धन-धान्य ही प्राप्त होता है, यानी धनियोंकी सेवाका लौकिक फल इस देहके साथ ही, समाप्त हो जाता है, आगे उसका उपयोग नहीं होता। परन्तु अर्जुनको सर्व प्रकारसे समुन्नत करनेवाला और गोवर्धन-पर्वतको उठानेवाला भगवान् श्रीकृष्णरूपी अमूल्य-अनन्त धन तो शुद्ध चित्त-वाले को अति सुगमतासे प्राप्त होता है, और उस धनका कभी क्षय भी

नहीं होता। भगवद्धन की प्राप्तिसे सदाके लिये दुःखपरम्परा दूर हो जाती है, भक्त सदा अमृतानन्द-महासागरमें निमग्न हो जाता है। सबका सार यह है, कि-स्वकल्याणाकांक्षीको आदरसे वैराग्यका सेवन करना चाहिये, जिससे भगवद्धनकी प्राप्ति हो जाय।

॥ इति वैराग्यपञ्चकंसमाप्तम् ॥

आत्मषट्कस्तोत्रम्

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं,
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायुः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥ १ ॥

मैं मन, बुद्धि, अंहकार, और चित्त नहीं हूँ, क्योंकि ये चारों अन्तःकरण हैं, अन्तःकरण मायाके सत्त्वगुणका कार्य है, अपंचीकृत पंच-भूतोंसे इसका निर्माण हुआ है, इसलिये मैं मायातीत-भूतातीत, अन्तःकरण कैसे होसकता हूँ ? नहीं होसकता। मैं कर्ण और जिह्वा नहीं हूँ, नासिका और नेत्रभी नहीं हूँ, क्योंकि कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, और नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, शब्दादि विषयोंके ज्ञानका साधन हैं, अपंचीकृत-पंचभूतोंके प्रत्येकके सत्त्व गुण अंशसे इनका निर्माण हुआ है, यानी आकाशके सात्त्विक अंशसे कर्णका, वायुके सात्त्विक अंशसे त्वचाका, अग्निके सात्त्विक अंशसे नेत्रका, जलके सात्त्विक अंशसे जिह्वाका, पृथ्वीके सात्त्विक अंशसे नासिकाका निर्माण हुआ है। इसलिये मैं प्रपञ्चा-

तीत ज्ञानेन्द्रिय कैसे होसकता हूँ ? नहीं होसकता । मैं आकाश और पृथ्वी नहीं हूँ, तेज नहीं हूँ, वायु नहीं हूँ, क्योंकि आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत मायाके कार्य हैं, इसलिये कार्यकारण-शून्य मैं पंचमहाभूत कैसे होसकता हूँ ? नहीं हो सकता। किन्तु मैं चिदानन्दरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ यानी मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ, इसलिये तमाम जड़प्रपञ्चको चैतन्य प्रदान करता हूँ, जिससे समस्त ब्रह्माण्डोंकी सत्ता स्फूर्ति होती है, मैं विशुद्ध अमृतानन्दका महासागर हूँ, मेरे आनन्दकणको प्राप्तकर सब आनन्दवाले प्रतीत होरहे हैं, अहा !! मैं ही कल्याणस्वरूप शिव हूँ, मैं ही देवाधिदेव महादेव श्रीशङ्कर हूँ ।

न च प्राणवर्गो न पंचानिला मे
न वा सप्तधातुर्न वा पंचकोशः ।
न वाक् पाणिपादौ न चोपस्थपायू,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥ २ ॥

मैं प्राणसमुदाय नहीं हूँ, इसलिये मेरे पांच-वायु नहीं होसकते, क्योंकि प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान ये पांच प्राण, और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनंजय ये पांच उपप्राण हैं, इनका समुदाय ही प्राणवर्ग है, पांचभूतोंके राजसअंशसे इनका निर्माण हुआ है, जल से इनकी स्थिति है, जब मैं जल नहीं हूँ, एवं सब भूतों से अतीत हूँ, तब मैं प्राणसमुदाय कैसे होसकता हूँ, ? नहीं होसकता। जब मैं असंग निर्विकार हूँ, तब इन पांच वायुका संग मुझसे क्यों

कर हो ? ये मेरे कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते ।

मैं सप्त धातु नहीं हूँ एवं पांच-कोशरूप भी नहीं हूँ, क्योंकि-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं वीर्य ये सात धातु, स्थूल शरीरमें हैं, जब मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ, तब मैं सप्तधातु कैसे हो सकता हूँ, नहीं होसकता । कोश, तीन शरीरके हैं, मैं शरीर नहीं हूँ, इसलिये मैं कोश नहीं हो सकता । स्थूल शरीर, अन्नमय कोश है, सूक्ष्मशरीर, प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय कोश है, तथा कारण शरीर, आनन्दमय कोश है । वाणी हाथ एवं पादभी मैं नहीं हूँ, लिङ्गे-न्द्रिय एवं गुदा भी नहीं हूँ, क्योंकि वाणी, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं, वदन आदि क्रियाएँ इनसे होती हैं, पांच-भूतोंके राजस अंशसे इनका निर्माण हुआ है, मैं निष्क्रिय हूँ, अतएव मैं कर्मेन्द्रिय कैसे होसकता हूँ ? नहीं होसकता । किन्तु मैं चिदानन्द स्वरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ ।

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ,
मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षः ,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥३॥

मुझे राग और द्वेष नहीं है, क्योंकि राग द्वेष जीव के धर्म हैं, जीवभाव देहाध्याससे होता है, मुझमें देहाध्यास नहीं है, अतएव जीव मैं नहीं होसकता, जीव न होने के कारण राग द्वेष, मुझमें कैसे

हो सकते हैं ? नहीं हो सकते। मुझमें लोभ नहीं है, क्योंकि-मुझमें सब कल्पित है, अतएव मैं आप्तकाम एवं पूर्णतृप्त हूँ, इसलिये लोभ किसका किया जाय, अप्राप्तवस्तु का लोभ होता है, अतःमुझमें लोभ नहीं होसकता। मुझमें मोह भी नहीं है, क्योंकि मेरे सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तब मोह किससे हो? क्योंकर हो? मोह मुझमें नहीं हो सकता। मुझमें मद एवं मात्सर्यका भावभी नहीं है, क्योंकि-मैं अद्वैत हूँ, मदादि दोष द्वैतभावमें होते हैं, मैं द्वैत-भावसे सर्वथा रहित हूँ, इसलिये मुझमें मदादि कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते, मुझमें न धर्म है, न अर्थ है, न काम है, न मोक्ष है, क्योंकि-धर्म अर्थ एवं कामकी आवश्यकता अल्पज्ञ जीवको होती है, मैं अल्पज्ञ जीव नहीं हूँ, इसलिये स्वर्गादि ऐश्वर्यप्रापक धर्मकी आवश्यकता मुझे नहीं है; मैं सब ऐश्वर्य का अधिष्ठान हूँ, इसलिये मुझे धन की आवश्यकता नहीं है, जब धनकी आवश्यकता ही नहीं, तब उसे प्राप्त करनेके लिये मैं क्यों विविध कष्ट उठाऊँ ? नहीं उठा सकता। जब मुझसे भिन्न न तो कोई कामना है, और न कोई कामनाका विषय ही है, तब कामना मुझमें कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती। मोक्षकी इच्छाभी मुझमें नहीं है, क्योंकि मैं मोक्षस्वरूप हूँ। मैं चिदानन्दस्वरूप कल्याणमय शिव हूँ, मैं शिव हूँ।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदो न यज्ञः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥

मुझमें न तो पुण्य है, न पाप है, न सुख है, न दुःख है, क्योंकि पुण्यादि धर्म, अंतःकरणमें हैं, मैं अंतः करणका साक्षी कूटस्थ चेतन आत्मा हूँ, इसलिये पुण्यादि धर्म मुझमें कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। मेरे लिये न तो कोई मन्त्र है, न तीर्थ है, न वेद है, न यज्ञ है। क्योंकि मन्त्र यानी मन्तव्य, निर्विकल्प आत्मामें कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। मैं काशी आदि समग्र तीर्थोंका अधिष्ठान हूँ, अतएव मेरे लिये तीर्थ क्योंकर हो? वेद जानने को कहते हैं जो अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, उसे वेदकी क्या आवश्यकता? कुछ नहीं। यज्ञ, अज्ञानीके लिये हैं, मैं यज्ञ नहीं हूँ, किन्तु यज्ञपति विष्णु हूँ, इसलिये मेरे लिये यज्ञ कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। मैं भोजन नहीं हूँ, भोज्य नहीं हूँ, और भोक्ताभी नहीं हूँ क्योंकि भोजन, भोज्य और भोक्ता यह त्रिपुटी माया में है, मुझमें माया नहीं है, इसलिये त्रिपुटी कहाँ से हो? नहीं हो सकती, मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, आनन्द स्वरूप हूँ कण्याण-स्वरूप हूँ, साक्षात् शिव-शंकर महादेव हूँ।

न मे मृत्युशंका न मे जातिभेदः,
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धु र्न मित्रं गुरुनैंव शिष्यः,
चिदानन्दरूपःशिवोऽहं शिवोऽहम् ॥ ५ ॥

मुझे मृत्युकी शंका नहीं है, क्योंकि-मैं कभी मरता ही नहीं, अमर हूँ, नित्य हूँ अविनाशी हूँ, मृत्युको भी मारने वाला हूँ

इसलिये मुझमें मृत्युका भय कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। मुझमें जातिका भी भेद नहीं है, क्योंकि मैं सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदसे रहित हूँ, मेरी कोई जाति ही नहीं है, तब सजातीय कैसे हो? एवं उसका भेदभी कैसे होसकता है? नहीं हो सकता। मेरे सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, इसलिये विजातीय भेद मुझमें नहीं है। मैं निरवयव निराकार हूँ अतः मेरे अवयव नहीं हो सकते, इसलिये मुझमें स्वगत भेद कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। मेरा पिता नहीं है, माता नहीं है, जन्म नहीं है, बन्धु नहीं हैं, मित्र नहीं हैं, तथा गुरु शिष्यभी नहीं हैं, क्योंकि-लोकमें देखा गया है कि-जिसका जन्म होता है, उसके माता पिता होते हैं, मेरा जन्म ही नहीं होता, मैं अजन्मा हूँ, इसलिये मेरे पिता माता कैसे हो सकते हैं? नहीं होसकते। जब माता पिता ही नहीं, तब बन्धु कहाँसे हो? द्वैतभावमें मित्र, गुरु एवं शिष्य होते हैं, मुझमें द्वैतका नामोनिशान ही नहीं है, किन्तु मैं अखण्ड-अचल-शाश्वत-अद्वैत हूँ, इसलिये मेरा कोई मित्र नहीं, गुरु नहीं, एवं शिष्य भी नहीं। मैं चिदानन्दस्वरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो,
विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि।
सदा मे समत्वं न मुक्ति र्न बन्धः,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ ६ ॥

मैं निर्विकल्प हूँ, निराकार हूँ, एवं व्यापक हूँ, क्योंकि-विकल्प मायामें है, मैं मायातीत हूँ, मायाका साक्षी एवं अधिष्ठान हूँ, । विकल्पसे आकारकी सृष्टि होती है, जब मुझमें विकल्प ही नहीं, तब आकार कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता । मैं सर्वस्थान पर सर्वेन्द्रियोंमें व्यापक हो रहा हूँ । मुझमें सदा समता है, यानी मैं हमेशा समान रहता हूँ । मेरी मुक्ति नहीं है, एवं मुझे बन्धन भी नहीं है, क्योंकि-मैं सदैव मुक्त स्वरूप हूँ, जो बन्धन में कभी पड़ता ही नहीं, उसे मुक्तिकी क्योंकर आवश्यकता हो ? नहीं हो सकती । मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, कल्याणस्वरूप हूँ, शिवशंकर महादेव हूँ ।

॥ इतिआत्मषट्कस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

हस्तामलक-स्तोत्रम्

दक्षिण-प्रदेशके 'श्रीबली' नामक ग्राममें 'प्रभाकर' नामका एक धर्मज्ञ एवं शास्त्रज्ञ ब्राह्मण रहता था । उसके यहाँ पुत्ररूपसे 'हस्तामलक' का जन्म हुआ था । जन्मसे ही वह बालक जड़के समान था । जब आचार्य श्रीशंकर स्वामी, अपनी मण्डली सहित भ्रमण करते हुए उस ग्राममें पहुँचे, तब प्रभाकर अपने उस जड़ पुत्रको लेकर आचार्यश्रीके पास पहुँचा । और उस बालकका शिर पकड़कर आचार्यके चरणोंमें झुका दिया । पुत्र, चरणों पर पड़ा रहा, उठा नहीं । जब श्रीशंकर स्वामीने बालकको हाथ पकड़कर उठाया, तब प्रभाकर कहने लगा—

हे भगवन् ! इस मेरे पुत्रको जड़ता क्यों प्राप्त हुई है ? इसका जन्म हुए तेरह वर्ष हो गये हैं, तथापि यह अभी तक कुछ समझता ही नहीं है। इसने न तो वेदादि पढ़े हैं, और न कोई अक्षर ही लिख सकता है। तथापि मैंने इसका यज्ञोपवीत कर दिया है। जब साथके लड़के इसे खेलनेकी इच्छासे बुलाते हैं, तो यह खेलनेको भी नहीं जाता। बहुतसे लड़के इसे जड़ देखकर मारते हैं, तो भी इसे क्रोध नहीं आता। सदा प्रसन्न रहता है, नाराज कभी नहीं होता। कभी भोजन करता है, और कभी नहीं भी करता। मेरा कहा नहीं मानता, स्वेच्छाचारी-मस्त रहता है, और अपनी प्रारब्धसे बढ़ता है।

बालककी मौन, प्रसन्न एवं योगमयी मुखमुद्राको देखकर श्रीशंकर स्वामीने उसको सम्बोधन करके पूछा—

कस्त्वं शिशो ! कस्य कुतोऽसि गन्ता,
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि ।
एतन्मयोक्तं वद चार्भक ! त्वं,
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि ॥ १ ॥

हे शिशो ! तू कौन है ? किसका है ? कहाँ जायगा ? तेरा नाम क्या है ? कहाँ से आया है ? मेरी प्रसन्नता के लिये मेरे किये हुए इन प्रश्नोंका उत्तर कह, तू मेरी प्रसन्नताका बढ़ानेवाला है।

आचार्य श्रीशंकर स्वामीजीके इन प्रश्नोंके उत्तरमें उस लड़केने जो कुछ कहा, वह 'हस्तामलक-स्तोत्र' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

उसको हथेलीमें रक्खे हुए आमलेकी तरह ब्रह्मात्मतत्त्वका प्रत्यक्ष-साक्षात्कार था। वाणीद्वारा बालकका अद्भुत चमत्कार देखकर उस प्रभाकर ब्राह्मणने इस बालकको आचार्यके चरणोंमें समर्पण किया। श्रीशंकर स्वामीने इस बालकको पूर्ण-सिद्ध योगी जानकर संन्यास-दीक्षासे विभूषित कर 'हस्तामलक' इस अन्वर्थ नामसे विभूषित किया। वही पश्चात् शारदा-पीठके प्रधान पद पर आरूढ़ होकर 'हस्तामलकाचार्य' नामसे विख्यात हुआ। उस बालकके कहे हूँए वचन ये हैं—

नाऽहं मनुष्यो न च देवयक्षौ,
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो,
भिक्षु र्न चाहं निजबोधरूपः ॥२॥

मैं मनुष्य नहीं हूँ देव और यक्ष भी नहीं हूँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र भी नहीं हूँ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासीभी नहीं हूँ, किन्तु ज्ञानस्वरूप, असङ्ग, आत्मा हूँ, इसलिये मैं किसी का भी नहीं हूँ, मेरेसे अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं, अचल व्यापक-स्वरूप मुझ चेतनमें जाना-आना भी कहां ? नाम-रहितका नाम भी कैसा ? यही उत्तर, आपकी प्रसन्नताका कारण होगा।

निमित्तं मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ,
निरस्ताखिलोपाधिराकाशकल्पः।

रविर्लोकचेष्टानिमित्तं यथा यः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ३ ॥

जैसे सूर्य भगवान्, तमाम—लोकोंकी प्रवृत्तिके कारण हैं, तथापि लौकिक-धर्मोंसे लिप्त नहीं होते, सदा निर्विकार एवं निर्लेप ही रहते हैं। तैसे मैं आत्मा, मन एवं चक्षुरादि तमाम उपाधियोंके संसर्गसे रहित-असंग हूँ, आकाशके समान निर्मल-निर्विकार हूँ, नित्य, अखण्ड, विशुद्ध, ज्ञानस्वरूप हूँ।

यमग्न्युष्णवन्नित्य-बोधस्वरूपं,
मनश्चक्षुरादीन्यबोधात्मकानि।
प्रवर्तन्त आश्रित्य निष्कंपमेकं,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ४ ॥

जैसे अग्निमें स्वभावसे ही सदा ऊष्णता रहती है, तैसे अचंचल-यानी अचल एक-अद्वितीय नित्य-ज्ञानस्वरूप आत्मामें स्वभावसे सदाचैतन्यता रहती है, जिसका आश्रय लेकर स्वतः बोधरहित जड़, मन एवं चक्षुरादि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होती हैं, वह नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ।

मुखाभासको दर्पणो दृश्यमानो,
मुखत्वात्पृथक्त्वेन नैवास्तु वस्तु।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ५ ॥

जैसे दर्पणमें दीखता हुआ मुखका प्रतिबिम्ब, वस्तुतः बिम्बरूप-मुखसे पृथक् नहीं है; किन्तु बिम्बरूपही है। तैसे ही बुद्धिरूपी दर्पणमें जीवरूपसे प्रतीयमान, चैतन्यका प्रतिबिम्ब बिम्बरूप चैतन्यसे पृथक् नहीं है; किन्तु चैतन्यरूपही है, वही नित्य-विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मा मैं हूँ।

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ,
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्।
तथा धीवियोगे निराभासको यः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ६ ॥

जैसे दर्पणरूप-उपाधिके न होनेपर दर्पणमें पड़ा हुआ मुखका प्रतिबिम्ब नहीं रहता है, किन्तु बिम्बप्रतिबिम्ब-भावकी कल्पनासे रहित एक-मात्र मुखही परिशिष्ट रहता है; तद्वत् बुद्धिरूप-उपाधिके न रहने पर आत्माका प्रतिबिम्ब नहीं रहता है, किन्तु सर्वबाधावधि-नित्य-ज्ञानस्वरूप, एक-अखण्ड, निर्विकार-अद्वैत ब्रह्मरूप आत्माही परिशिष्ट रहता है, वही मैं हूँ।

मनश्चक्षुरादेर्वियुक्तः स्वयं यो,
मनश्चक्षुरादे-र्मनश्चक्षुरादिः।
मनश्चक्षुरा देरगम्य-स्वरूपः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ७ ॥

जो आत्मा मन एवं नेत्रादि-इन्द्रियोंसे भिन्न है, उनका स्वयं साक्षी-द्रष्टा है। जो मनका मन, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, एवं वाणीकी भी वाणी है, यानी मन आदि सर्व-कार्यकारण संघात को जो स्वयं सत्ता-स्फूर्ति देकर स्व-स्व-कार्यमें प्रवृत्त कराता है। तथा मन एवं नेत्रादि इन्द्रियोंसे जिसका निर्विकार-कूटस्थ-स्वरूप नहीं जाना जाता है, वही नित्यज्ञानस्वरूप ब्रह्मरूप व्यापक आत्मा मैं हूँ।

य एको विभाति स्वतःशुद्धचेताः,
प्रकाशस्वरूपोऽपि नानेव धीषु।
शरावोदकस्थो यथा भानुरेकः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥ ८॥

जो स्वयं अकेला ही अपने विशुद्ध-स्वप्रकाश अखण्ड-चैतन्यरूपसे प्रकाशता है। जैसे जलसे भरे हुए अनेक मटकोंमें एकही सूर्य अनेक-रूपसे भासता है, इस प्रकार एक ही स्वयं-ज्योति आत्मा, अनेक बुद्धियोंमें अनेक-रूपसे भासता है, वही नित्य-ज्ञान- स्वरूप आत्मा मैं हूँ।

यथाऽनेकचक्षुः प्रकाशो रवि र्न,
क्रमेण प्रकाशीकरोति प्रकाश्यम्।
अनेका धियो यस्तथैकः प्रबोधः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥ ९॥

जैसे सूर्य-देवता अनेक नेत्रोंको क्रमसे प्रकाश न करता हुआ एक-साथ ही प्रकाश करता है, तैसे ही अनेक बुद्धियोंको एक ही साथ सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला नित्यज्ञान स्वरूप-आत्मा मैं हूँ।

विवस्वत्प्रभातं यथा रूपमक्षं,
प्रगृह्णाति नाभातमेवं विवस्वान्।
यदाभात आभासयत्यक्षमेकः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ १० ॥

जैसे सूर्यसे प्रकाशित रूपको ही नेत्र ग्रहण कर सकता है, यानी देख सकता है। सूर्यसे अप्रकाशित रूपको नेत्र-इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकती। तैसे सूर्यभी जिस चैतन्य-आत्मासे प्रकाशित हुआ ही रूप, नेत्र आदिको प्रकाश देता है। आत्मासे अप्रकाशित सूर्य, किसी को कभी भी प्रकाश नहीं दे सकता, यानी सर्व-लोक प्रकाशक-सूर्यादि ज्योति, आत्मप्रकाशसे प्रकाशित होती हैं, वही नित्य-ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ।

यथा सूर्य एकोऽप्स्वनेकश्चलासु,
स्थिरास्वप्यनन्यद्विभाव्यस्वरूपः।
चलासु प्रभिन्नः सुधीष्वेक एव,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ११ ॥

जैसे चंचल एवं स्थिर-जलमें एक ही सूर्य अनेक रूपसे भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, तथापि वह वस्तुगत्या अनेक रूप एवं भिन्न-

भिन्न नहीं हो सकता। तद्वत् चंचल एवं स्थिर विविध बुद्धियोंमें एकही आत्मा अनेक रूपसे भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, परन्तु परमार्थमें वह अनेक रूप एवं भिन्न-भिन्न नहीं हो सकता, ऐसा एक अद्वैत स्वरूप, ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ।

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं,
यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ १२ ॥

जैसे मेघ (बादल-समुदाय) से आच्छादित हुई दृष्टिसे मूढ़ मनुष्य, मेघसे ढके हुए सूर्यको प्रभा-(दीप्ति) रहित मानता है, तैसेही मूढ़-दृष्टिवालेको जो नित्यमुक्त-स्वरूप आत्मा बद्ध न होता हुआ भी भ्रान्तिसे बद्ध दीखता है; वही अखण्ड-विशुद्ध-ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ।

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं,
समस्तानि वस्तूनि यं न स्पृशन्ति।
वियद्वत्सदा शुद्धमच्छस्वरूपः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ १३ ॥

आकाशादि-समस्तपदार्थों में जो एक ही अनुस्यूत यानी ओत-प्रोत है। तथापि उन पदार्थों से उसे लेश भी स्पर्श (विकार) नहीं

होता। जो आकाशके समान सर्वदा शुद्ध एवं निर्मल ही रहता है, वही नित्य विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप आत्मा मैं हूँ।

उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां,
तथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेऽपि।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं,
तथा चञ्चलत्वं तवापीह विष्णो!॥ १४॥

जैसे जपा-कुसुमादि अनेकविध उपाधिके भेदसे निर्मल एवं शुद्ध स्फटिक-मणियाँ अनेक-तरहसे भिन्न-भिन्न रंगवाली प्रतीत होती हैं। तैसे ही विचित्र शुद्धाशुद्ध बुद्धिरूपी उपाधिके भेदसे एक-रस विशुद्ध आत्मा ही अनेक रूपसे विचित्र-सा प्रतीत होता है। जैसे चंचल-जलके सम्बन्धसे अचंचल-स्थिर चन्द्रप्रभामें चंचलपना प्रतीत होता है। तद्वत् हे व्यापक विष्णो! आपके अचल-विशुद्ध स्वरूप में भी बुद्ध्यादि-उपाधिके सम्बन्धसे ही चंचलपना प्रतीत होता है, परमार्थमें आप अचल-अखण्ड विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप ही हैं।

॥ इति हस्तामलकस्तोत्रं समाप्तम् ॥

कौपीन-पंचकम्

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
अशोकवन्तः करुणैकवन्तः, कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥ १॥

'अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'शिवं शान्तमद्वैतं प्रपञ्चोपशमः' इत्यादि उपनिषदोंके वाक्योंमें ही जो सदा रमण करते हैं, यानी उन वाक्योंके रहस्यका रात्रिदिन चिन्तन करते हैं। जो यदृच्छा-प्राप्त केवल भिक्षाके अन्न से ही सन्तुष्ट रहते हैं, जो निष्कारण करुणा-दयाशील हैं, एवं शोक-मोह रहित हैं, ऐसे कौपीन-(लंगोटी) धारण करनेवाले ब्रह्मचर्यव्रतधारी विरक्त संन्यासी विद्वान् महात्मा ही सचमुच भाग्यशाली हैं।

मूलं तरोः केवलमाश्रयन्तः, पाणिद्वयं भोक्तुममत्रयन्तः।
कन्थामपि स्त्रीमिव कुत्सयन्तः, कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥ २ ॥

जो केवल सर्वसह-वृक्षके नीचे ही पड़े रहते हैं, यानी जो परम-तितिक्षु सहनशील हैं। और जो स्वच्छन्दतासे एवं अखण्ड-प्रसन्नतासे दोनों हाथोंमें भिक्षा लेकर भोजन करते हैं, यानी जो करपात्री हैं—भिक्षाके लिये अपने हाथोंको ही जिन्होंने पात्र बनाया है। स्त्रीके समान जो गुदड़ीका भी निरादर करते हैं, यानी जो तमाम परिग्रहसे शून्य, अकिञ्चन हैं, ऐसे कौपीन धारण करनेवाले विरक्त विद्वान् संन्यासी महात्मा ही सचमुच भाग्यशाली हैं।

देहाभिमानं परिहृत्य दूरादात्मानमात्मन्यवलोकयन्तः।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः, कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥ ३ ॥

जिन महानुभावोंने तुच्छ-क्लेशप्रद, देहाभिमानको यानी 'मैं देह हूँ' 'मेरा देह है' ऐसे तुच्छ-भावको दूरसे ही छोड़ दिया है।

जो एक-मात्र सर्वव्यापक विशुद्ध-अद्वैत आत्मामें ही अपने आत्माको देखते हैं, यानी आत्मासे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानते हैं, और जो रात दिन एक-मात्र ब्रह्मानन्दमें ही रमण करते हैं, ऐसे कौपीन-धारण करनेवाले विरक्त विद्वान् संन्यासी महात्मा ही सच-मुच भाग्यशाली हैं।

स्वानन्दभावे परितुष्टिमन्तः, स्वशान्तसर्वेन्द्रियवृत्तिमन्तः।
नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः, कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥ ४॥

जो अपने विशुद्ध ब्रह्मानन्दकी अखण्ड मस्तीसे मस्त रहते हैं, जो अपने आत्मामें ही अपनी सभी इन्द्रियों की वृत्तियोंको अन्त-र्मुख-शान्त किये रहते हैं। और जिनको अन्तर, मध्य एवं बाहरके प्रपञ्चकी कुछ भी खबर नहीं है, यानी जिन्होंकी दृष्टिसे अन्तरका एवं बाहरका प्रपञ्च विलुप्त हो गया है, बाहर भीतर सर्वत्र, सदा एक-मात्र अखण्ड ब्रह्मतत्त्वको ही जो देखते हैं, ऐसे कौपीन धारी-ब्रह्मचारी विरक्त विद्वान् संन्यासी महात्मा ही सचमुच बड़े भाग्यवान् हैं।

पञ्चाक्षरं पावनमुच्चरन्तः, पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः।
भिक्षाशनाः दिक्षु परिभ्रमन्तः, कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥ ५॥

जो परम पवित्र 'ॐ नमः शिवाय' इस पञ्चाक्षर महा- मन्त्रका सदा उच्चारण करते हैं। जो तमाम चराचर-जीवोंके-नाथ विश्व-नाथ भगवान् श्रीशङ्करको सदा ही अपने हृदयमें रखते हैं, और जो भिक्षान्नका सेवन करते हुए चारों दिशाओंमें स्वच्छन्द होकर

परिभ्रमण करते हैं, ऐसे कौपीनधारी-ब्रह्मचारी विरक्त विद्वान् संन्यासी महात्मा ही सचमुच बड़े भाग्यवान् हैं ।

॥ इति कौपीनपञ्चकंसमाप्तम् ॥

निर्वाण-दशकम्

न भूमि र्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात् सुषुप्त्यैकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ १ ॥

मैं भूमि नहीं हूँ, जल नहीं हूँ, तेज नहीं हूँ, वायु नहीं हूँ, आकाश नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, और न उनका समूह ही हूँ, क्योंकि-ये सब मायाके कार्य होने से परस्पर व्यभिचारी हैं, एवं विकारी हैं, मैं तो सुषुप्तिमें भी सर्वानुगत एवं निर्विकार रूपसे स्वतः-सिद्ध हूँ, सबका अवशेषरूप एक-अद्वितीय केवल शिवस्वरूप हूँ ।

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि ।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानात्,
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ २ ॥

मुझमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण नहीं हैं, वर्ण और आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास)

के आचार और धर्म भी नहीं हैं, एवं धारणा, ध्यान और योगादि भी नहीं हैं, क्योंकि—अब मेरा देहादि-अनात्म-वर्गमें अहं एवं ममरूप अविद्याका अध्यास निवृत्त हो गया है। मैं सर्वका अवधि-अधिष्ठान एक—अद्वितीय केवल शिवही हूं।*

न माता पिता वा न देवा न लोका,
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्,
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ३ ॥

न कोई मेरी माता है, एवं न कोई मेरा पिता है, क्योंकि-मैं अजन्मा हूँ, जिसका जन्म ही नहीं, उसके माता पिता कैसे हों? मेरे पूजनेके योग्य कोई देव भी नहीं है, और आने जानेके लिये न तो कोई लोक हैं, क्योंकि-मैं ही सब देवताओंका देवता हूँ, एवं मुझ व्यापक-आत्माका आना जाना भी नहीं होता, और मेरे लिये न वेद हैं, न यज्ञ हैं, न तीर्थ हैं, क्योंकि-अध्यासकी निवृत्तिके लिये ही वेदादि उपयुक्त होते हैं, मुझमें अध्यासकी यानी अनात्म-भावनाकी गंधही नहीं है, इसलिये वेदादि मेरे लिये नहीं हैं, क्योंकि-मैं तो सुषुप्ति के समान अशेष-विषय रहित हूँ, तमाम द्वैत-प्रपञ्च, मुझ अद्वैत आत्म-

---

* अविद्याजनित-अध्यासकी निवृत्तिके लिये ही धारणादि-योगका एवं वर्णाश्रमधर्मका पालन किया जाता है। अध्यासके निवृत्त होनेपर धारणादिकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती है, जैसे भोजन करनेपर पत्तलोंकी, तद्वत्।

स्वरूपमें शून्य हो जाता है, अतः मैं सर्व-शेष, सर्व-बाधावधि, एक-केवल-कल्याण-स्वरूप शिव हूँ।

न सांख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं,
न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात्,
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ४ ॥

मैं सांख्यधर्मवाला नहीं हूँ, क्योंकि-सांख्य शास्त्र, विकार हटाकर शुद्ध स्वरूपका उपदेश करता है, मैं तो प्रथमसे ही शुद्ध-असंग निर्विकार हूँ, अतः मुझे सांख्य-धर्मकी क्या आवश्यकता ? कुछ नहीं। मैं शैव (शिवका उपासक) भी नहीं हूँ, क्योंकि-मै शिवस्वरूप हूँ। मैं पांचरात्रमतका भी नहीं हूँ, क्योंकि-पांचरात्र-तन्त्रके अनुष्ठानसे प्राप्य विष्णुस्वरूप तो मुझे सर्वदा प्राप्त ही है, मैं जैनमतका भी नहीं हूँ, क्योंकि जैन-शास्त्र अधर्मकी निवृत्तिके लिये आदेश देता है, मैं तो सर्वदा धर्माधर्मरहित परम-निर्वाण कैवल्य स्वरूप हूँ। मीमांसा आदिके मतका भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि—मैं अक्रिय हूँ, अतः मीमांसकोंसे उपदिष्ट कर्म-कलापका अवलम्बन मुझे क्यों हो ? जितने मत-मतान्तर हैं, वे सब अनाद्यनन्त सुखस्वरूपकी तरफ ले जानेका साक्षात् एवं परम्परासे प्रयत्न कर रहे हैं। मैंने अपने सर्वोत्तम, विशुद्ध-स्वरूपका साक्षात् अनुभव किया है, इसलिये सर्व-शेष एक-केवल कल्याण स्वरूप शिव मैं हूँ।

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं,
न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वापरादिक्।

वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूपः,
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ५ ॥

मैं ऊपर भी नहीं हूँ, नीचे भी नहीं हूँ, भीतर भी नहीं हूँ, बाहर भी नहीं हूँ, न बीच में हूँ, न तिरछे में हूँ, न पूर्व एवं अपर दिशा में हूँ, क्योंकि-मैं आकाशके समान व्यापक-अखण्ड स्वरूप हूँ, इसलिये परिच्छिन्न-स्थानोंमें मैं कैसे आ-सकता हूँ। उपाधिके सम्बन्धसे भी मैं खण्ड खण्ड नहीं हो सकता, खण्डपना अज्ञानसे है, मुझमें तीनकालमें भी अज्ञान नहीं है, इसलिये मैं सबका शेष एक-केवल शिवरूप हूँ।

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं,
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात्,
तदेकोऽवशिष्टःशिवः केवलोऽहम् ॥ ६ ॥

मैं श्वेत नहीं हूँ, काला नहीं हूँ, लाल नहीं हूँ, पीला नहीं ,हूँ कुबड़ा नहीं हूँ, मोटा नहीं हूँ, छोटा नहीं हूँ, लम्बा नहीं हूँ, क्योंकि-श्वेतादि गुण माया के हैं, मैं मायासे अतीत हूँ, रूपरहित हूँ, सर्व-प्रकाशक आत्म-ज्योति-स्वरूप हूँ, सबका शेष एक-केवल शिव-स्वरूप हूँ।

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा,
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः।

स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः,
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ७ ॥

मैं उपदेश देनेवाला शासका नहीं हूँ, शास्त्र नहीं हूँ, शिष्य नहीं हूँ, एवं शिक्षाभी नहीं हूँ। शास्त्र, शिष्य, शिक्षा, शिक्षक इत्यादि आत्माके अज्ञानसे प्रतीत होते हैं, जब मुझ स्वयं-प्रकाशमें अज्ञान ही नहीं, तब शास्त्रादि की कल्पना कैसे हो सकती है ? तू और मैं भी नहीं है, और यह प्रपञ्चभी नहीं है, क्योंकि-मैं स्वस्वरूपको जाननेवाला हूँ, या मैं विज्ञानघन स्वरूप हूँ, इसलिये तू—मैं इत्यादि कल्पना मैं सह नहीं सकता। अन्तमें सब से बचा हुआ एक-केवल शिव-स्वरूप मैं हूँ।

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्ति-
र्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा।
अविद्यात्मकत्वात् त्रयाणां तुरीयः,
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ८ ॥

मुझमें जाग्रत्, स्वप्न, एवं सुषुप्ति अवस्था नहीं हैं, क्योंकि-वे अवस्थाएँ स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों के मिथ्या—अभिमानसे प्रतीत होती हैं, मैं इन शरीरों के अभिमानसे रहित हूँ, इसलिये मुझ-शरीरातीतमें उन शरीरोंमें होनेवाली अवस्थायें किस प्रकार हों ? और उनके अभिमानी विश्व, तैजस एवं प्राज्ञभी मैं नहीं हूँ। वे तीनों अविद्यास्वरूप हैं, और मैं तुरीय स्वरूप हूँ, इसलिये मैं सर्व-शेष केवल शिवस्वरूप हूँ।

अपि व्यापकत्वाद्धि तत्त्वप्रयोगात्,

स्वतःसिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।

जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत्,

तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ९ ॥

मैं व्यापक हूँ, इसलिये मेरा तत्त्व शब्दसे निर्देश किया जाता है। मैं स्वतः सिद्ध सत्तावाला हूँ, अन्यआश्रय रहित हूँ, इसलिये मुझ अद्वैत-अखण्डस्वरूप आत्मासे अन्य यह सब द्वैत-परिच्छिन्न प्रपञ्चरूप जगत् तुच्छ है, मिथ्या है। मैं सर्वदा सर्वका शेष केवल एक शिवरूप हूँ।

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यात्,

न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।

न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्,

कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ १० ॥

जब एक नहीं है, तब उससे अन्य दूसरा कहाँ से आवेगा ? यानी अद्वैत- तत्त्व उसे कहते हैं कि—जहाँ एक और अनेक कुछ भी न कहा जाय, एककी अपेक्षासे दो और दोकी अपेक्षासे एक होता है, अद्वैत में अपेक्षा नहीं है, वह निरपेक्ष तत्त्व है, इसलिये अद्वैत-तत्त्व एक एवं अनेक-भावसे विलक्षण है। अद्वैतमें केवल भाव भी नहीं है एवं अकेवल-भावभी नहीं है, वह तो केवल और अकेवलसे अतीत है। शून्य भी नहीं है। शून्य, सत्तारहितका नाम

है, इसलिये स्वतः सिद्ध अद्वैत-तत्त्व शून्य नहीं हो सकता। शून्यका प्रतिपक्षी अशून्य है, जब शून्यही नहीं, तब उसका प्रतिपक्षी अशून्य कैसा ? जिसको सभी ही वेदान्त वाक्योंने सिद्ध किया है, उसको मैं किन शब्दोंसे किस प्रकार वर्णन करूँ ? क्योंकि-वह शब्द-शक्तिसे अतीत है, जहाँ शब्दोंका उच्चारण करते हैं, वहाँ अन्य (द्वैत) ही हो जाता है, इसलिये उसका शब्दोंके द्वारा कथन करना अशक्य है, कथंचित् अतद्व्यावृत्तिसे यानी निषेध-मुखसे उसका बोध हो सकता है। इसलिये उपनिषद् वाक्य, उस तत्त्वका इशारेसे (लक्षणा-वृत्तिसे) प्रतिपादन करते हैं, और साथही कहते हैं कि—इशारा (लक्षणा) छोड़कर लक्ष्य वस्तुका ही अनुभव द्वारा ग्रहण करो, वह स्वानुभवैक-वेद्य वस्तु है।

॥ इति निर्वाणदशकंसमाप्तम् ॥

आत्म-पञ्चकम्

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गम्, नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः ।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः, साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥ १ ॥

मैं पांच-महाभूतोंका बना हुआ महामलिन स्थूल देह नहीं हूँ, इसलिये स्थूल देहके धर्म, नाम-रूप, जन्म-मरण, मान-अपमानादि, मुझको स्पर्श, नहीं कर सकते हैं। मैं चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी नहीं हूँ, अतएव उनके देखना, सुनना आदि धर्म, मुझ असंगमें आ नहीं सकते हैं।

मैं भीतर रहनेवाला मन भी नहीं हूँ, इसलिये मनकी सभी खट-पट मुझसे बहुत ही दूर है। अहंकार भी मैं नहीं हूँ, अतएव उसकी तुच्छता मेरेमें कैसे आ सकती है?। मैं पांच प्रकारका प्राण-वर्ग भी नहीं हूँ, अतः उनके क्षुधा पिपासादि धर्म, मेरेमें नहीं हैं, मैं बुद्धि भी नहीं हूँ। स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, धन आदि तमाम संसारके पदार्थोंसे मैं बहुत ही दूर हूँ, असङ्ग हूँ, अतः उनमें मेरी ममता कैसे हो सकती है? मैं नित्य हूँ, साक्षी-द्रष्टा हूँ, प्रत्यगात्मा हूँ, शिव-कल्याण स्वरूप हूँ।

रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः,
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।
आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्॥ २॥

जैसे अंधकारादि-दोषसे रस्सीके न जानने पर वह रस्सी सर्परूपसे दिखाई देने लगती है, तैसे सच्चिदानन्द-स्वरूप-ब्रह्मात्मतत्त्वके न जाननेसे ही शुद्ध-आत्मा, कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, आदि-जीव भावसे भासने लगता है। जैसे किसी यथार्थ-देखनेवालेके बता देनेसे भ्रान्ति नाश होनेपर सर्पका बाध होकर रस्सी दीखने लगती है, इसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ-ब्रह्मश्रोत्रिय सद्गुरुके तत्त्वमस्यादि महावाक्यके उपदेश द्वारा यथार्थ—अपरोक्ष ज्ञान होनेसे 'मैं दीन-हीन जीव नहीं हूँ, किन्तु शुद्ध-निर्विकार-असंग कल्याण रूप शिव हूँ, ऐसा मुमुक्षु निश्चय करता है।

अभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं, सत्यज्ञानानन्दरूपे विमोहात् ।
निद्रामोहात्स्वप्नवत्तन्न सत्यं, शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम् ॥ ३ ॥

सत्यरूप, ज्ञानरूप, आनन्दरूप, एक-अद्वैत अखण्डरूप, मुझ आत्मामें यह नामरूपात्मक जगत् अविद्या-रूपी भ्रान्तिसे नहीं होता हुआ भी दीख रहा है । इसलिये निद्रारुप-दोषसे दीखनेवाला स्वप्न-संसारके समान यह जाग्रत् संसार मिथ्या-क्षणभङ्गुर है, सत्य नहीं है, तमाम-अध्यस्त-संसारका अधिष्ठान, एकमात्र मैं ही सत्य हूँ, मैं.शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, एक-अद्वय-शिव हूँ ।

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो, देहस्योक्ताःप्राकृताः सर्वधर्माः ।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं-कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ॥ ४ ॥

मैं जन्मा नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हुआ हूँ, अतएव मैं कदापि नष्ट नहीं होसकता हूँ जन्म, मरण आदि सब धर्म, अनात्म-प्राकृत शरीरके हैं, मुझ असंग शुद्ध-प्रकाश आत्माके नहीं हैं । कर्तापना, भोक्तापना, सुखित्व, दुःखित्व, आदि धर्म अहंकार के हैं, चेतन-शुद्ध आत्माके ये धर्म कदापि नहीं हो सकते, चेतन-आत्मा तो मैं शुद्ध शिवरूप हूँ ।

मत्तो नान्यत्किञ्चिदत्रास्ति दृश्यं,
सर्वं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम् ।
आदर्शान्तर्भासमानस्य तुल्यं,
मय्यद्वैते भाति तस्माच्छिवोऽहम् ॥ ५ ॥

मुझ एक-अद्वैत, अखण्ड, आत्मा को छोड़कर और कोई दृश्य पदार्थ तीनकालमें भी नहीं है । दर्पण में भासमान कल्पित पदार्थ की तरह, यह तमाम नामरूपक्रियात्मक-सकल-संसार अघटघटना पटीयसी-मायासे ही मुझ अद्वैत-तत्त्वमें मिथ्याही भास रहा है । इसलिये मैं कल्याणमय शिव हूँ, मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

चर्पट-पञ्जरिका

एक समय आचार्य भगवान् श्रीशङ्करस्वामीजी श्रीकाशीमें गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे । मार्गमें एक बूढ़ा ब्राह्मण व्याकरणकी 'डुकृञ् करणे' धातुको याद कर रहा था । उसकी ऐसी शोचनीय-दशा देखकर आचार्य श्रीशङ्करस्वामीजीने उसीसमय उसको निमित्त-बनाकर संसारके सभी मनुष्योंको उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया । वही उपदेश 'चर्पट-पञ्जरिका' नामसे संसारमें प्रसिद्ध हुआ । वह यह है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते ! ।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे, नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ॥ १ ॥

(ध्रुवपदम्)

हे मूढ़ बुद्धिवाले ! अब तू बूढ़ा हो गया है, मृत्यु भी समीप ही है, मृत्युके समयमें 'डुकृञ् करणे' धातु तेरी रक्षा नहीं करेगी । अतः तू इस व्यर्थकी दन्त-खटाखटको छोड़कर भगवान् श्रीगोविन्दका एकाग्रमनसे निरन्तर भजन कर । वृद्धावस्थामें हरिभजनको छोड़

कर व्याकरणके पीछे पड़ना नितान्त मूर्खता है। मतलब यह है- श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र पढ़नेमें व्याकरण उपयोगी है, परन्तु बुढ़ापेमें प्रथम कई बर्षोंतक व्याकरण पढ़े और फिर शास्त्र पढ़े, इतना समय ही कहाँ है? ऐसी अवस्थामें जितना बन सके उतना श्रीहरि का एकाग्रतासे भजन ही करना चाहिये, प्रभु-भजन ही संसार सागरसे पार लगानेवाला है।

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः, परे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥ भज० ॥

हे मूढ़मते! जब तू बालक था, तब खेल-कूदमें ही लगा रहा, यानी खेल-कूदमें ही अपनी बाल्यावस्था फजूल खतम कर दी। जब तू जवान हुआ, तब तू जवान-स्त्रीकी सेवामें ही आसक्त बनारहा, अर्थात् अपनी जवानी, स्त्री-सेवामें ही लगा दी। और अब जब तू वृद्ध होगया, तब अनेक चिन्ताओंमें डूबा हुआ है, यानी, 'व्याकरणआदिको परिश्रमसे पढ़कर, पण्डित बनकर, धन आदि कमा-कर, फिर भी मैं स्त्री-पुत्रादिकोंका लालन पालन करूं' इत्यादि अनेक मलीन चिन्ताओंसे ग्रसित हो रहा है, परन्तु कभी तू ने उस परब्रह्म श्रीगोविन्द से परम-प्रेम नहीं किया। बड़े ही गज़बकी बात है कि-तू अपनी तीनों ही अवस्थाओंमें सुख-शांन्तिप्रद प्रभु-भजनको भूल गया, सदा संसारमें ही आसक्त बना रहा। हे मूर्ख! अबतो चेत, "गई सो गई अब राख रहीको" सावधान मनसे तू गोविन्द भगवान् का निरन्तर भजन कर, तेरे तमाम पाप-ताप शान्त हो जाँयेंगे॥ २॥

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहित्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥ भज० ॥

हे मूढ़-बुद्धिवाले ! तेरे हाथ, पैर, आदि तमाम अङ्ग, गल गये हैं, यानी पैर और हाथोंकी खाल लटक रही है, हाथ काँप रहे हैं, पैर लथड़ाते हुए चलते हैं, आँखोंमें गड्ढे पड़ गये हैं, गाल बैठे हुये हैं, कानोंसे ऊँचा सुनाई देता है, पेट पीठको लग रहा है, इत्यादि । शिर, डाढी, मूच्छ आदिके तमाम बाल रुईके गालेके समान श्वेत होरहे हैं । मुख, दाँतोंसे रहित पोपला होगया है, यानी मुखमें एक भी दाँत नहीं है । अब तू वृद्ध होकर काँपता हुआ लकड़ी टेक टेक कर चलता है, चलते चलते सांस भी फूल जाता है, बड़ी ही परेशानी भोग रहा है, तथापि तू सांसारिक-आशाओंके पिण्डको छोड़ता नहीं है, एक मिनिट भी शान्त होकर उस भगवान् का भजन करना नहीं चाहता । हे मूर्ख! क्यों आपही अपना शत्रु बन रहा है, मरनेके दिन नजदीक हैं, अबतो निश्चिन्त मनसे श्रीगोविन्दका भजन कर ॥ ३ ॥

पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे, कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ! ॥ भज० ॥

हे मूढ़मते ! अनादि कालसे तूने वारंवार असंख्य जन्म लिया यानी अनेक ऊँच नीच शरीर धारण किया । असंख्य वार फिर फिर उसी ही भयङ्कर-मृत्युको प्राप्त हुआ । और असंख्य माताओंके दुर्गन्धमय कष्टप्रद उदरोंमें-सोया, यानी तूने इस असार संसारके जन्म मरण एवं गर्भशयनरूपी चक्रमें असंख्य वार फँसकर महाकष्ट

उठाया। हे मूढ़! अब तो तू इस संसार-चक्रसे छूटनेके लिये उस मुरारि भगवान् से प्रार्थना कर कि—हे मुरारि प्रभु! इस दुस्तर अपार संसार-सागरसे मेरा उद्धार कीजिये, मैं एकमात्र आपके ही शरणमें हूँ। और हरदम उस कृपानिधि गोविन्द भगवान् का एकाग्र-मनसे भजन कर॥ ४॥

दिनमपि रजनी सायं प्रातः, शिशिर-वसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायु-स्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥ भज०॥

क्रमशः वारम्वार दिन होता है, और जाता है, रात होती है और जाती है, साम और सुबह होता है और देखते देखते ही चला जाता है, शिशिर वसन्त आदिक अनेक ऋतुएँ वारम्वार आ आकर चल देती हैं, इस प्रकार काल भगवान्की विचित्र क्रीड़ा निरन्तर होती रहती है, और इससे आयु बरबाद होता जा रहा है, हाय! तथापि महान् खेदकी बात है कि—हे मूढ़मते! तू इस तुच्छ संसारकी आशारूप-पवनको छोड़ना नहीं चाहता। अरे मूर्ख! काल देवताने तेरा बहुत कुछ तो अमूल्य आयु नष्ट कर दिया, अब बहुत ही थोड़ा आयु बच रहा है, उसको तो तू सार्थक बना, उससे निरन्तर गोविन्द भगवान का भजन कर॥ ५॥

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः, काषायाम्बरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि न च पश्यति लोकः, उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः॥ भज०॥

पेट भरनेके लिये कभी तो शिरपर जटाएँ रखकर जटाधारी बना, कभी शिरके सम्पूर्ण बालोंको मुड़ाकर मुण्डी बना, कभी

बालोंको नोंचवाकर जैन-साधु बना, कभी तो भगवाँ वस्त्र धारणकर संन्यासी बना, इत्यादि अनेक-प्रकारके विविधवेष धारण किये, तथापि मूढ़-मनुष्य इस असार—संसारकी क्षणभङ्गुरताको प्रत्यक्ष देखता हुआ भी मोह ममतामें फँसकर उसे वह नहीं देखता। मतलब यह है- इस शरीरादि-प्रपञ्च साररहित, दुःखमय एवं क्षणभङ्गुर जानता हुआ भी मोहवश इन्द्रियोंके लालन-पालनके लियेही अनेक पाखण्ड-ढोंगकर अनर्थ कमाता है, और उस सत्य सनातन प्रभुको जानता हुआ भी उसका तिरस्कार करता है, यह बड़ी ही आश्चर्यकी बात है। अतः हे मूर्ख! तमाम ढोंग एवं दम्भको छोड़कर श्रद्धा-पूर्ण निष्कपट-हृदयसे एकमात्र उस गोविन्द भगवान्‌के भजन करनेमें कटिबद्ध होजा॥ ६॥

वयसि गते कः कामविकारः, शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो, ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः॥ भज०॥

अवस्था चली जानेपर काम-विकार शक्ति नहीं रहती। पानी सूख जानेपर तालाव नहीं रहता। धन चले जानेपर परिवार नहीं रहता, यानी स्त्री पुत्र आदि परिवारका स्नेह तबतक ही रहता है—जबतक उसके पास धन रहता है, जब धन नहीं रहता है, तब परिवारका स्नेह भी कपूरकी तरह उड़ जाता है। तैसे एक अखण्ड-अद्वैतरूप गोविन्दका यथार्थ तत्त्व जाननेपर यह नामरूपात्मक क्लेशप्रद संसार नहीं रह सकता। इसलिये हे मूर्ख! उस तत्त्वके साक्षात्कारके लिये गोविन्द भगवान्‌का निरन्तर भजन कर॥ ७॥

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू, रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः ।
करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥ भज० ॥

तपस्वी होनेके कारण आगे अग्नि जलती है, पीछे धूप पड़ती है। एवं दिगम्बर-नग्न रहनेके कारण रातको घुटनोंके बीचमें डाढ़ी रखकर सोना पड़ता है। अकिञ्चन-अवस्थामें पात्र न होनेसे हाथ ही भिक्षा-पात्र बना है, वनवासी होनेके कारण पेड़के नीचे सोना पड़ता है। तथापि बड़ेही गजबकी बात है कि-ऐसा तपस्वी विरक्त भी संसारके भोगविलासकी आशारूपी फाँसीको छोड़ना नहीं चाहता, अर्थात् विरक्तपना एवं तपस्वीपना तभी ही शोभा देता है-जब संसारकी तमाम आशाओंको छोड़कर एकमात्र गोविन्द भगवान्का एकाग्र मनसे परम श्रद्धाभक्तिपूर्वक भजन किया जाता है। अतः हे मूर्ख ! गोविन्दका भजन कर, जिससे तेरी तपश्चर्या एवं तितिक्षा सफल बनें ॥ ८ ॥

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे, वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥ भज० ॥

जबतक मनुष्य धन कमानेमें समर्थ होता है, तबतक उसका परिवार-कुटुम्ब उससे स्नेह करता है, उसके आधीन रहता है। और पीछे वृद्धावस्था आनेके कारण, या रोगी हो जानेके कारण, शरीर निर्बल होजाता है, धन कमानेकी सामर्थ्य रहती नहीं है, तब घरके कुटुम्बीलोग उससे बाततक भी करना नहीं चाहते। अतः हे मूढ़मते ! इस स्वार्थी संसारके पीछे पागल मत बन, उससे स्नेह छोड़ और

निरन्तर गोविन्दप्रभुके भजनमें चित्त जोड़, यही कल्याण-प्राप्तिका शान्त एवं सुखकारी मार्ग है ॥ ९ ॥

रथ्याचर्पटविरचितकंथः, पुण्यापुण्यविवर्जितपंथः ।
न त्वं नाहं नायं लोकः, तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥ भज० ॥

मार्गमें पड़े हुए चीथड़ोंको बीनकर उनकी कन्था बनाकर उसको पहनता है, पुण्य एवं पापके मार्गको छोड़कर शुद्ध विरक्त मार्गमें बिचरता है, "तू नहीं, मैं नहीं, यह संसार भी नहीं है, किन्तु एकरस अखण्ड आत्मा ही है" ऐसा वारंवार बोलता भी है, तथापि हे-मूर्ख ! तू शोक क्यों करता है ? अर्थात् विरक्त होनेपर भी अबतक तेरे हृदयसे कामनारूपी डाकिनी पूर्णतया निकली नहीं है। जबतक उस डाकिनीका आवेश हृदयसे सर्वथा दूर न हो जाय, तबतक आनन्दनिधि आत्माका पूर्ण-साक्षात्कार नहीं होसकता। और आत्मसाक्षात्कारके विना मोह शोककी निवृत्ति भी नहीं होसकती। 'तरति शोकमात्मवित्' आत्माको अपरोक्ष जाननेवाला शोक नहीं करता, इसलिये हे मूढमते ! उस गोविन्द-स्वरूप आत्माका निरन्तर भजन-चिन्तन कर, जिससे तेरे तुच्छ शोककी निवृत्ति होजाय ॥ १० ॥

नारीस्तनभरजघननिवेशं, दृष्ट्वा मिथ्यामोहावेशम् ।
एतन्मांसवसादिविकारं, मनसि विचारय वारंवारम् ॥ भज० ॥

हे मूढ़मते ! नारीके पीन-स्तन और पुष्ट जघन (पेड़ू) की रचना देखकर क्यों व्यर्थ ही मोहका आवेश उत्पन्न कर विकारी बनता है।

रे मूर्ख ! इतना भी जानता नहीं है कि—ये स्तन, जघन आदि महा-मलीन, दुर्गन्धमय माँस चरबी आदि गन्दे पदार्थोंसे बने हैं, इस प्रकार तू उनकी मलीनताका मनमें वारंवार विचारकर, और शुद्ध-स्वरूप श्रीगोविन्दभगवान् का भजनकर, मोहावेशको शान्त कर॥ ११॥

गेयं गीता-नामासहस्रं, ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं, देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥ भज० ॥

हे मूढमते! संसारका क्लेशप्रद गान छोड़कर गीता और विष्णुसहस्र-नामका ही निरन्तर गानकर । संसारका ध्यान त्यागकर भगवान् श्रीविष्णुका ही सदा ध्यान कियाकर । नीच विषयी-पामर मनुष्यका संग छोड़कर, सज्जन-विद्वान् विरक्त महात्माओंके संगमें ही चित्त लगा । और दीन दुःखी जनोंको ही दान दियाकर तथा श्री गोविन्द भगवानका निरन्तर भजनकर ॥ १२ ॥

भगवद्गीता किञ्चिदधीता, गंगाजललवकणिका पीता ।
येनाकारि मुरारेरर्चा, तस्य यमः किं कुरुते चर्चा ॥ भज० ॥

जिसने भगवद्गीताका थोड़ा भी पाठ किया है, जिसने थोड़ा भी गङ्गाजलका पान किया है, और जिसने मुरारि-प्रभुकी पूजा की है, उसकी यमराज क्या चर्चा कर सकता है ? कदापि नहीं कर सकता है । अतः हे मूढ़ ! यदि यमराजके भयङ्कर पाशसे छूटना है तो गीताका पाठ कर, गङ्गाजलका पान कर एवं भगवान्की पूजा कर। और साथ ही परम मङ्गलमय-गोविन्द भगवान्का भजन किया कर, यही संसारके कष्टोंसे छूटनेका परम उपाय है ॥ १३ ॥

कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः, का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं, सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥ भज० ॥

'मैं कौन हूँ ?' 'तू कौन है ?' 'तू कहाँसे आया है ?' 'मैं कहाँसे आया हूँ ?' मेरी माता कौन है ?' 'मेरा पिता कौन है ? इसका विचारकर, श्रेष्ठ महात्माओंसे इस विषयको पूछाकर। रे मूर्ख ! यह तमाम शरीरादि-संसार स्वप्न-संसारके समान असार एवं मिथ्या है, न कोई किसीकी माता है, न पिता है, न कोई सम्बन्धी है, न शरीरादि भी हैं, । यह सब स्वप्नके समान केवल झूठा ख्याल-मात्र है। अतः इस क्षणभङ्गुर-संसारकी भावना छोड़कर एकमात्र उस गोविन्द भगवान् का निश्चिन्त मनसे भजन कर ॥ १४ ॥

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः, संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं वा कुत आयातः, तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः ! ॥ भज० ॥

तेरी स्त्री कौन है ? तेरा पुत्र कौन है ? यानी न कोई तेरी स्त्री है एवं न तो कोई तेरा पुत्र है, व्यर्थ ही उनमें ममता बढ़ाकर क्यों पागल हो रहा है ? यह संसार अत्यन्त विचित्र-स्वार्थप्रचुर है, अर्थात् कोई किसीका नहीं है, जो कुछ वस्तु देखनेमें आती है, वह कुछ कालके बाद अवश्य ही अदृश्य हो जाती है। अतः हे भाई ! तू किसका है ? और कहाँसे आया है ? इसका विचार कर, यदि स्वयं विचार करनेमें असमर्थ है, तो विद्वान् विरक्त-महात्माओंके पास जाकर इस विषयका विचार कर, और निरन्तर श्रीगोविन्दका भजन कर ॥ १५ ॥

सुरतटिनीतरुमूलनिवासः, शय्याभूतलमजिनं वासः ।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः, कस्य सुखं न करोति विरागः ॥ भज० ॥

गङ्गा-किनारेके वृक्षकी मूलमें निवास करना, भूमि ही शय्या बनाना, मृगचर्म ही पहिननेके लिये वस्त्र समझना, तमाम स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि परिग्रह छोड़ देना, और समस्त भोग-विलासकी इच्छा त्याग करना ही वैराग्यका आभ्यन्तर एवं बाह्य दो प्रकारका स्वरूप है। ऐसा वैराग्य किसको निर्मल सुख नहीं देता? यानी सबको सुख देता है। अर्थात् विरक्त विद्वान् पुरुष ही महा-सुखी, सर्वथा-निर्भय, श्रेष्ठ एवं धन्य हैं। इसलिये हे मूढ़मते! शुद्ध वैराग्यकी प्राप्तिके लिये उस श्रीगोविन्द भगवान्का भजन कर, भगवान् की कृपासे ही मनुष्य विरक्त एवं विद्वान् हो सकता है ॥१६॥

॥ इति चर्पट-पञ्जरिका समाप्ता ॥

मनीषा-पञ्चकम्

अवतरणिका

एक समय भगवान् भाष्यकार आचार्य श्रीशङ्कर-स्वामी श्रीकाशी धाममें श्रीगंगाजीसे स्नान करके आ रहे थे। मार्गमें क्या देखा कि-सामनेसे एक चाण्डाल आ रहा है, मैले-कुचेले चीथड़ोंकी गुदड़ी पहिना हुआ है, लम्बा कद है. लाल लम्बी दाढी है, बूढ़े होनेके कारण कुछ-कुछ श्वेत होगयी है, ऐसी ही लम्बी-लम्बी मूँछें हैं, हाथमें एक झाड़ू है, साथमें दो काले-काले कुत्ते हैं।

भाष्यकार उसको देखकर बचने लगे। परन्तु जैसे आजकल ब्राह्मण आदिको देखकर भङ्गी, चमार आदि प्रायः बचते नहीं हैं, किन्तु भेटते हुए ही निकलते हैं । इसप्रकार वह चाण्डाल भी बचा नहीं, किन्तु ज्यों ज्यों भाष्यकार हटते जायें, त्यों त्यों ऊपर ही चला आवे, जब भाष्यकार हटते ही चले गये और कुछ बोले नहीं, तब वह इसप्रकार कहने लगा—

चाण्डाल—हे शङ्कर ! क्यों हटता है ? हटनेका क्या कारण है ? क्या तू मुझमें और अपनेमें भेद समझता है ? जैसा तेरा देह पाँचभूतोंका कार्य हड्डी-मांस आदिका बना हुआ है, और मल-मूत्र आदिसे भरा हुआ है, ऐसा ही मेरा है, तेरे और मेरे देहमें कुछ भेद नहीं है । तेरे और मेरे आत्मामें भी भेद नहीं है, क्योंकि आत्मा सबका एक है, और शुद्धबुद्ध, नित्यमुक्त, निष्कल, निरञ्जन, अखण्ड, एकरस है, इसलिये तुझमें और मुझमें भेद नहीं है । तूने मुझे डाँट नहीं बतायी यानी अपने समीप आनेसे मुझे न रोका, स्वयं ही बचता रहा, इससे तुझमें ब्राह्मण अथवा संन्यासीका लक्षण घटता है, क्योंकि-ब्राह्मण और संन्यासीका शान्ति ही परम भूषण है, ऐसा विद्वानोंका मत है । परन्तु तू मुझसे हटता क्यों है ? तेरे हटनेसे सिद्ध होता है कि—तुझमें भेदबुद्धि है, यदि ऐसा न हो तो तू मुझसे बचता नहीं । सुनता हूँ कि—तू शङ्करका अवतार है एवं अद्वैतका प्रचारक है, शङ्कर तो समदर्शी हैं, ब्राह्मण, गाय, कुत्ते और चाण्डालको एक-सा देखते हैं, तुझमें भेदबुद्धि कहाँसे आयी ?

यदि तुझमें भेदबुद्धि है तो तू शङ्कर का अवतार नहीं है, अद्वैत-बादका आचार्य नहीं है, बता तेरी बुद्धि यानी तेरा निश्चय क्या है ? *

गुदडीमें लाल छुप नहीं सकते । आचार्य, चाण्डालकी कान्ति और भाषणसे समझ गये कि-यह सामान्य मनुष्य नहीं है, चाण्डाल के वेषमें विश्वनाथ मेरी परीक्षा लेने आये हैं । महात्माओंसे वाद विवाद करना शिष्टाचारसे विरुद्ध है, ऐसा अपने मनमें विचार कर, भाष्यकार आचार्य श्रीशङ्कर स्वामी अपनी बुद्धिका परिचय नीचेका स्तोत्र पढ़ते हुए देने लगे—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते,
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी ।
सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चेत्,
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम ॥ १ ॥

जो संवित् (ज्ञानस्वरूप–आत्मा) जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिमें स्पष्टतर फैली हुई है । जो जगत् की साक्षिणी है, ब्रह्मासे लेकर

---

* इस घटनाके मूल श्लोक ये हैं—

सत्याचार्यस्य गमने, कदाचिन्मुक्तिदायकम् ।
काशीक्षेत्रं प्रति सह गौर्या मार्गे तु शङ्करम् ॥
अन्त्यवेषधरं दृष्ट्वा, गच्छ गच्छेति चाब्रवीत् ।
शङ्करः सोऽपि चाण्डालस्तं पुनःप्राह शङ्करम् ॥
अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात् ।
द्विजवर ! दूरीकर्तुं वांछसि, किं ब्रूहि गच्छगच्छेति ॥

चींटी-तकके शरीरोंमें प्रोई हुई है, वही मैं हूं, दृश्य-जड-वस्तु देहादि मैं नहीं हूँ, ऐसी जिसकी दृढ़बुद्धि है, वह चाहे चाण्डाल हो, या चाहे वह द्विज हो, वह तो मेरा गुरु ही है, ऐसी मेरी मनीषा यानी निश्चित बुद्धि है ।

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्रविस्तारितम्,
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाऽशेषं मया कल्पितम् ।
इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले,
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम ॥ २ ॥

मैं और यह समस्त जगत् ब्रह्म ही है, सर्वत्र शुद्ध-चिन्मात्र ही फैला हुआ है और यह सर्व अशेष संसार तीन गुणवाली अविद्यासे मैंने कल्पा है; इस प्रकार सुखतर, नित्य, निर्मल, परमात्मामें जिसकी स्थिर एवं दृढ़ बुद्धि है, वह चाण्डाल हो, चाहे द्विज हो, वह गुरु है, ऐसी मेरी निश्चययुक्त-बुद्धि है ।

शश्वन्नश्वरमेव विश्वमखिलं निश्चित्य वाचा गुरो-
र्नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याजशान्तात्मना ।
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके,
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुरित्येषा मनीषा मम ॥ ३ ॥

निष्कपट-शान्त-मनवाला, नित्य-ब्रह्मका निरन्तर विचार करनेवाला, गुरुकी वाणीसे यह सब नामरूपात्मक विश्व सदा नाशवान् है, मिथ्या है, ऐसा निश्चय करके अतीत एवं अनागत पापोंको

जिसने ज्ञानमय अग्निमें जला दिया है, और अपना शरीर प्रारब्धको अर्पण कर दिया है, वह गुरु है, ऐसी मेरी बुद्धि है।

या तिर्यङ्नरदेवताभिरहमित्यन्तः स्फुटा गृह्यते,
यद्भासा हृदयाक्षदेहविषया भान्ति स्वतोऽचेतनाः।
तां भास्यैः पिहितार्कमण्डलनिभां स्फूर्तिं सदा भावयन्,
योगी निर्वृतमानसो हि गुरुरित्येषा मनीषा मम ॥ ४ ॥

जो स्फूर्ति (सत्ता-प्रकाश) तिर्यक्, नर, एवं देवताओंसे 'अहं' रूपसे हृदयके भीतर स्पष्ट ग्रहण की जाती है, जिसके प्रकाशसे स्वयं अचेतन हृदय, इन्द्रियाँ, देह और विषय प्रतीत होते हैं, सूर्य-मण्डलके समान देहादि प्रकाश्योंसे ढकी हुई आनन्दमयी स्फूर्तिकी सदा भावना करता हुआ सुखी मनवाला योगी ही गुरु है, ऐसी मेरी निश्चयवाली-बुद्धि है।

यत्सौख्याम्बुधिलेशलेशत इमे शक्रादयो निर्वृताः,
यच्चित्ते नितरां प्रशान्तकलने लब्ध्वा मुनिर्निर्वृतः।
यस्मिन्नित्यसुखाम्बुधौ गलितधीर्ब्रह्मैव न ब्रह्मवित्,
यः कश्चित् स सुरेन्द्रवन्दितपदो नूनं मनीषा मम ॥ ५ ॥

जिस सुखरूप-समुद्रके अंशके अंशसे ये इन्द्रादि देवभी सुखी होते हैं, अत्यन्त-शान्तवृत्तिवाले-चित्तमें जिस तत्त्वको प्राप्त करके मुनि सुखी हुआ जिस नित्य सुख-समुद्रमें लीन हुई बुद्धिवाला ब्रह्मवित् नहीं है, किन्तु साक्षात् ब्रह्म ही है, वह जो कोई भी हो, सुरेन्द्रसे

वन्दित पदवाला है, यानी सुरेन्द्र उसके चरणोंकी वन्दना करता है, निश्चय मेरी ऐसी बुद्धि है।

आचार्य भाष्यकारके इस कथनसे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि—'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मज्ञानीके लिये विधि-निषेध आदि कोई कर्तव्य नहीं है, वह सबका गुरु है, फिर भी चाहे आप हो, चाहे मैं होऊँ, जिन्होंने जीवोंके हितके लिये शरीर धारण किया है, यदि वे विधिमें प्रवृत्त हों और निषेध से निवृत्त हों, तो भी उनकी क्या हानि है? जैसा कि-भगवान् ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं, त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं, वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता ३।२१-२२-२३-२४)

इसलिये शिष्टाचारके अनुसार मैं आपसे हटकर यानी बचकर चला हूँ, ऐसा न करूँ तो मैं लोकका हित न करके अहित करने-वाला ठहरूँ। लोकमें भी ऐसा कहा है कि—'जैसा देश वैसा वेष'

इस न्यायसे भी मैंने उचित ही किया है, अनुचित नहीं किया है। आपतो सबके गुरु सर्वज्ञ हैं ही, तब आपसे अधिक क्या कहूँ, आप सब जानते ही हैं।

चाण्डालरूप भगवान् विश्वनाथ इतना सुनकर एवं प्रसन्न होकर आचार्य श्रीशङ्करस्वामीके प्रति 'आपका अद्वैत-सिद्धान्त प्रामाणिक एवं श्रद्धेय होगा' ऐसा कहकर अदृश्य होगये।

॥ इति मनीषा-पञ्चकं समाप्तम् ॥

मोह-मुद्गर

मूढ! जहीहि धनागमतृष्णां, कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम्।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं, वित्तं तेन विनोदय चित्तम्॥ १॥

हेमूढ़! धन-सञ्चय की तृष्णा छोड़, मनमें संतोष रख और सद्बुद्धि धारण कर, तेरे कर्मके अनुसार धर्म एवं न्यायसे तुझे जो कुछ धन प्राप्त है, उससे ही चित्तको शान्त कर, यानी यदृच्छा-लाभसे संतुष्ट होकर सर्वदा प्रसन्न रहा कर।

अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः, सर्वत्रैषा कथिता नीतिः॥ २॥

स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि पदार्थ, राग-द्वेष आदि अनेक विध-दोषोत्पत्ति द्वारा महा अनर्थ करनेवाले हैं, ऐसी तू निरन्तर भावना किया कर। उन पदार्थोंसे तनिक भी निर्मल सुख नहीं

हो सक्ता है, ऐसा तू निश्चय रूपसे समझ, यानी उनमें तू सुख-बुद्धिका परित्याग कर। धनवालोंको, बदमाश-गुण्डोंकी तो बात ही क्या ? किन्तु अपने पुत्रसे भी भय बना रहता है, ऐसा नियम सब जगह पाया जाता है, और विवेकविचारशील कहते भी हैं।

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं, हरति निमेषात्कालः सर्वम् ।
मायामयमिदमखिलं हित्वा, ब्रह्मपदं प्रविशाशु विदित्वा ॥ ३ ॥

हे मूर्ख ! धनका, स्त्री-पुत्र-आदि स्वजनोंका, एवं जवानीका गर्व मतकर। याद रख, इन सबको एकही क्षणमें कालदेवता नष्ट कर देता है, मायामय यह नामरूपात्मक मिथ्या जगत् छोड़ कर सद्गुरुके उपदेशसे ब्रह्मस्वरूप-आत्म-तत्त्व जानकर उसमें ही शीघ्र प्रवेश कर, यानी अनात्मचिन्तन छोड़कर एकमात्र आत्मतत्त्वका ही निरन्तर चिन्तन कर।

नलिनीदलगतजलवत्तरलं, तद्वज्जीवनमतिशयचपलम् ।
क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका ॥ ४ ॥

कमल-पत्रके ऊपर रहे हुए जलके समान यह जीवन अत्यन्त ही चंचल है-क्षणिक है, यानी जीवनके एकक्षणका भी विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः इस क्षणिक-असार-जीवनमें सत्संगति ही सार है, एक-क्षणमात्रकी सज्जन विरक्त विद्वानोंकी संगति भी संसार-सागरसे तरने के लिये नौकारूप हो जाती है।

यावज्जननं तावन्मरणं, तावज्जननी जठरे शयनम् ।
इति संसारे स्फुटतरदोषे, कथमिव मानव ! तव संतोषः ॥ ५ ॥

जबतक जन्मना है, तबतक मरना है, यानी मरनेके लिये ही जन्म लिया जाता है, और तबतक माताके गन्दे-उदरमें सोना भी पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष दोषवाले महाअनर्थरूप असार संसार में हे मूर्ख मनुष्य! तुझको कैसे सन्तोष हो रहा है, अर्थात् तू इस संसारसे सन्तुष्ट होकर उसमें ही क्यों आसक्त बन बैठा है।

कामं क्रोधं मोहं लोभं, त्यक्त्वाऽऽत्मानं भावय कोऽहम्।
आत्मज्ञानविहीना मूढास्ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः ॥ ६ ॥

काम, क्रोध, लोभ एवं मोहका परित्यागकर 'मैं कौन हूँ' इस प्रकार आत्माकी खोजकर, याद रख कि—आत्मज्ञानसे रहित मूढ़ मनुष्य घोर नरकमें सर्वदा पच-पचकर महादुःखी होते रहते हैं।

सुरमंदिरतरुमूलनिवासः, शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः, कस्य सुखं न करोति विरागः ॥ ७ ॥

एकान्त-देवमन्दिरमें या वृक्षके मूलमें निवास करना, पृथ्वी को शय्या बनाना एवं मृगचर्मको वस्त्र बनाकर पहिनना और स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि सभी प्रकारके परिग्रहको छोड़ देना, तथा हृदय से भोग-वासनाका सर्वथा परित्याग करना, यही वैराग्यका सच्चा स्वरूप है। ऐसा निर्मल वैराग्य किसको सुख नहीं देता, यानी सब को सुख देता है, वैराग्य ही निर्मल सुखका सच्चा साधन है।

शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ, मा कुरु यत्नं विग्रहसंधौ।
भव समचित्तःसर्वत्र त्वं, वाञ्छस्यचिराद्यदि विष्णुत्वम् ॥ ८ ॥

यदि तू शीघ्र ही उस आनन्दनिधि-परम-निर्भय-विष्णुपदको प्राप्त करना चाहता है तो, शत्रु, मित्र, पुत्र एवं बन्धुवर्गके साथ यानी संसारकी तमाम वस्तुओंके साथ विग्रह यानी द्वेष एवं सन्धि यानी राग-आसक्तिके लिये यत्न मत कर। सब जगह सभी वस्तुओं में समचित्तवाला हो, अर्थात् सर्वत्र तू एक आनन्दरूप चेतनतत्त्व को ही देखाकर, जिससे विष्णुपद प्राप्तिके लिये प्रतिबन्धक राग-द्वेष होने ही न पावे।

त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि सर्वसहिष्णुः।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं, सर्वत्रोत्सृज भेदाज्ञानम् ॥ ९ ॥

तुझमें, मुझमें और अन्य सभी ही स्थानोंमें एवं तमाम वस्तुओं में एक ही सर्वव्यापक विष्णु-परमात्मा विद्यमान है, ऐसा निश्चय कर। व्यर्थही क्यों किसीसे नाराज होकर तू क्रोध करता है, तितिक्षु बन। याद रख कि-विष्णुके सिवाय और कोई वस्तु है ही नहीं, अतः सभी ही पदार्थोंमें एक विष्णु रूप आत्माको देखाकर, और सर्वत्र भेद-बुद्धिरूप विपरीत-भावनामयी अविद्या छोड़.।

प्राणायामं प्रत्याहारं, नित्यानित्यविवेकविचारम्।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं, कुर्ववधानं महदवधानम् ॥१०॥

योगी-ब्रह्मनिष्ठ-गुरुओंके उपदेशानुसार बड़ी ही सावधानीसे प्राणायाम एवं प्रत्याहारका अभ्यास कर, और नित्यानित्य-वस्तुका विवेक एवं सत्यासत्यका निरन्तर विचार कर और जाप्यसहित समाधि का विधान भी महाप्रयत्नसे सम्पादन कर।

अष्टकुलाचलसप्तसमुद्राः, ब्रह्मपुरंदरदिनकररुद्राः ।
न त्वं नाहं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥११॥

सबसे बड़े आठ कुलाचल पर्वत, क्षारोदधि क्षीरोदधि आदि सात समुद्र, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, रुद्र, आदि बड़े-बड़े देवता एवं तू मैं और यह समस्त चतुर्दश भुवनरूप-लोक समुदाय भी नहीं रहेगा, एक रोज मर मिट जायगा, यानी यह तमाम दृश्य-प्रपञ्च क्षणभंगुर विनाशी एवं मिथ्या है, तथापि हे मूढ़ ! किसके लिये तू शोक करता है, क्यों हाय-हायकी होली हृदयमें मचाता रहता है, विचार कर शोकका अवसर ही कहाँ है ?

सुखतः क्रियते रामाभोगः, पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः ।
यद्यपिलोके मरणं शरणं, तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥१२॥

हे मूढ़ ! प्रथम तो तू सुखबुद्धिसे बड़ी भारी उद्दण्डताके साथ निर्मर्याद स्त्री-भोग करता है, और पीछे तेरे शरीरमें बड़ा भारी रोग हो जाता है, इससे दुःखी होकर रोता है, चिल्लाता है। हे मूर्ख ! यद्यपि तू जानता है कि-इस मर्त्यलोकमें अन्ततोगत्वा सबका मरण ही शरण है, मृत्युके विकराल पाशसे कोई नहीं बचने पाता, तथापि बड़ी ही लज्जाकी बात है कि-तू पापाचरणको छोड़ना नहीं चाहता।

यावज्जीवो निवसति देहे, कुशलं तावत्पृच्छति गेहे ।
गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये ॥१३॥

जबतक इस मलमूत्रके पात्ररूप-देहमें जीवात्मा निवास करता है, तबतक घरवाले सम्बन्धी लोग इस शरीरकी कुशलता पूछते हैं, जब प्राणवायु इस शरीरसे निकल जाता है, और यह शरीर मुरदा बन जाता है, तब इसे देखकर निरन्तर प्रेम करनेवाली घरकी खास स्त्री भी डर जाती है, उससे मुख सिकोड़ लेती है, एक क्षणके लिये भी उसके पास बैठना नहीं चाहती। अतः हे मूर्ख! अभीसे ही तू क्यों सावधान नहीं होता, इस तुच्छ-शरीरसे एवं इस शरीरके स्वार्थी सम्बन्धियोंसे मोहममता क्यों नहीं छोड़ता? आखिर जूते खाकर छोड़ेगा तो अवश्य ही।

गुरुचरणाम्बुजनिर्भरभक्तः संसारादचिराद्भव मुक्तः।
सेन्द्रियमानसनियमादेव द्रक्ष्यसि निजहृदयस्थं देवम् ॥१४॥

श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओंके चरणकमलोंका अनन्यभक्त बन। बड़ी ही श्रद्धाके साथ उनके सदुपदेश ग्रहणकर, शीघ्र ही इस असार-संसारके मोहममतामय बन्धनोंसे मुक्त होजा। विश्वास रख, इन्द्रिय एवं मनके संयमसे-एकाग्रतासे तू अपने हृदयमें साक्षीद्रष्टा-रूप से रहनेवाले उस स्वप्रकाश सर्वात्मा भगवान् का साक्षात्कार कर लेगा।

॥ इति मोह-मुद्गरः समाप्तः ॥

श्रीगङ्गाष्टकम्

भगवति ! तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं,
विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि ।
सकलकलुषभंगे ! स्वर्गसोपानसंगे,
तरलतरतरंगे ! देवि ! गंगे ! प्रसीद ॥ १ ॥

हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यादि षड्विध भगसे सम्पन्ना भगवती भागीरथी! हे सम्पूर्ण पापोंको ध्वंस करनेवाली! हे स्वर्गकी सीढ़ीसे सम्बन्ध कराने वाली! हे अत्यन्त चञ्चल लहरोंवाली! तुम्हारे पवित्र-एकान्त तटपर बैठकर मैं केवल जल-पान करता हुआ, विषय-भोगकी लालसासे रहित होकर भगवान् श्रीकृष्ण-परमात्माकी आराधना करता हूँ। हे दिव्य स्वरूपवाली देवी गङ्गे! मुझपर प्रसन्न होइये, आपके विमल प्रसादसे ही मेरा श्रीकृष्णाराधन सफल होगा।

भगवति ! भवलीलामौलिमाले ! तवाम्भः,
कणमणुपरिमाणं प्राणिनो ये स्पृशन्ति ।
अमरनगरनारीचामरग्राहिणीनां,
विगतकलिकलङ्कातङ्कमङ्के लुठन्ति ॥ २ ॥

हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यादि षड्विधभगयुक्त! भगवान् महादेवके जटा मुकुटमें मालारूप आभूषणके समान सुशोभित देवी गंगे! जो प्राणी बूँदके समान थोड़ा-सा भी तुम्हारे जलका स्पर्श करते हैं, वे कलि-

कालके पापमय-कलङ्करूपी मलके उपद्रवसे रहित होकर देव-नगरी अमरावतीकी चामर-ग्रहण करनेवाली देवाङ्गना-अप्सराओंकी गोदमें लोटते हैं।

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती,
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती।
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूर्निर्भरं भर्त्सयन्ती,
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित्पावनी नः पुनातु॥ ३॥

ब्रह्माण्डको फोड़कर निकलती हुई, भगवान् श्रीमहादेवके मस्तकपर रही हुई जटारूपिणी-लताको प्रफुल्लित करती हुई, स्वर्गलोकसे नीचे गिरती हुई, सुमेरु-पर्वतकी गुफा एवं पर्वत-माला की विविध शिलाओंसे बहती हुई, पृथ्वीके पृष्ठ भागपर लोटती हुई, पाप-समूहकी-सेनाको कड़ी फटकार देती हुई, समुद्रको भरती हुई, देवलोककी पवित्र-नदी-भगवती-भागीरथी-गंगा हमें पवित्र करे।

मज्जन्मातङ्गकुम्भच्युतमदमदिरामोदमत्तालिजालं,
स्नानैः सिद्धाङ्गनानां कुचयुगविगलत्कुङ्कुमासंगपिङ्गम्।
सायं प्रातर्मुनीनां कुशकुसुमचयैश्छन्नतीरस्थनीरं,
पायान्नो गाङ्गमम्भः करिकलभकराक्रांतरंहस्तरङ्गम्॥४॥

स्नान करते हुए हाथियोंके कपोलोंसे झरती हुई मदरूपी मदिराकी सुगन्ध पाकर आनन्दित हुए भ्रमर-समूहसे युक्त, स्नान के समय सिद्धोंकी स्त्रियोंके स्तनद्वयसे बहे हुए केसरके

सम्बधसे पीला-रंगवाला, प्रातःकाल व सायंकाल संध्या-वंदनके समय मुनियों द्वारा अर्पित कुश और पुष्पोंके समूहसे ढकाहुआ तटके निकटका जल, तथा हाथियोंके बच्चों की सूण्ढोंसे रोके जानेके कारण वेगसे बहनेवाला, तरङ्गयुक्त परमपावन गंगाजल, हमारा कल्याण करे।

आदावादिपितामहस्य नियमव्यापारपात्रे जलं,
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम्।
भूयः शम्भुजटाविभूषणमणिर्जह्नोर्महर्षेरियं,
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी दृश्यते ॥ ५ ॥

जो गंगा आरम्भमें प्रथम, आद्य-शरीरी पितामह-ब्रह्माके कमण्डलुमें जलरूपसे विद्यमान थी। तत्पश्चात् शेषशैय्यापर शयन करनेवाले भगवान् विष्णुके चरणकमलोंका प्रक्षालन करने पर विष्णु-पादोदकी बनी। फिर भगवान् श्रीशङ्करकी जटाओंका श्रेष्ठ आभूषण-मणिके समान सुशोभित हुई। तत्पश्चात् जह्नु महर्षिकी जंघासे निकलने के कारण जह्नु-कन्या जाह्नवी हुई। इसप्रकार अनेक रूपोंमें प्रकट होनेवाली, सकल पापोंका नाश करनेवाली, भगवती, भागीरथी, पुण्यशाली मनुष्योंसे देखीजाती है।

शैलेन्द्रादवतारिणी निजजले मज्जज्जनोत्तारिणी,
पारावारविहारिणी भवभयश्रेणीसमुत्सारिणी।
शेषाहेरनुकारिणी हरशिरोवल्लीदलाकारिणी,
काशीप्रान्तविहारिणी विजयते गंगा मनोहारिणी ॥ ६ ॥

पर्वतराज-हिमालयसे उतरनेवाली, अपने जलमें स्नान करनेवाले मनुष्योंका उद्धार करनेवाली, महासागरमें विहार करनेवाली, संसारके जन्म-मरणादि भय-समुदायका ध्वंस करनेवाली, शेषनागके समान तिरछी-चालसे चलनेवाली, भगवान् श्रीशङ्करके मस्तकपर लता-पत्रके समान आकारवाली, परमपावनी-श्रीकाशीजीके प्रदेशमें उत्तरवाहिनी होकर बहनेवाली, मनको हरनेवाली श्रीगंगा-भगवती विजयिनी हो रही है, अर्थात् श्रीगंगाजीकी सदैव जय है।

कुतो वीचिर्वीचिस्तव यदि गता लोचनपथं,
त्वमापीता पीताम्बरपुरनिवासं वितरसि।
त्वदुत्संगे गंगे! पतति यदि कायस्तनुभृतां,
तदा मातः! शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः ॥ ७ ॥

हे मातः गङ्गे! यदि किसी-पुण्यके प्रभावसे आपके मनोहर-तरङ्ग की शोभा नेत्रोंके समक्ष आजाय, तो पुनः संसार-सागरके संकट-मय तरङ्ग का दर्शन कैसे होसकता है? हे देवी! तुम्हारे पवित्र-जलका पान करने मात्रसे आप पीताम्बरधारी भगवान् श्री विष्णुका पुर-वैकुण्ठधामका निवास देती हो। हे मातः! यदि शरीर-धारियोंके शरीर, आपकी परम-पावनी गोदमें छूट जाते हैं, तो उस समय उस-आनन्दके समक्ष देवराज-इन्द्रके-पदकी प्राप्ति भी अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होती है।

गंगे ! त्रैलोक्यसारे ! सकलसुरवधूधौतविस्तीर्णतोये !,
पूर्ण-ब्रह्मस्वरूपे ! हरिचरणरजोहारिणि ! स्वर्गमार्गे ! ।
प्रायश्चित्तं यदि स्यात्तव जलकणिका ब्रह्महत्यादिपापे,
कस्त्वां स्तोतुं समर्थस्त्रिजगदघहरे ! देवि ! गंगे ! प्रसीद ॥ ८ ॥

हे मातः गङ्गे ! हे तीनों लोकोंमें सारस्वरूपिणी ! समस्त देवाङ्गनाओंके स्नानसे सुगन्धित विस्तीर्ण-निर्मल जलवाली ! हे पूर्ण ब्रह्मस्वरूपिणी ! हे भगवान् विष्णु के चरणोंकी रज (धूलि) को धोनेवाली ! हे स्वर्गके मार्गरूपिणी ! जब ब्रह्महत्यादि-पापोंके प्रायश्चितके लिये आपके जलका छोटा-सा कण-मात्र ही पर्याप्त है। अत एव हे तीनों लोकोंके तापोंको ध्वंस करनेवाली ! देवी गङ्गे ! तब आपकी स्तुति करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अतः हे मातः ! आप हम पर प्रसन्न होइये ।

मातर्जाह्नवि ! शम्भुसंगवलिते ! मौलौ निधायाञ्जलिं,
त्वत्तीरे वपुषोऽवसानसमये नारायणाङ्घ्रिद्वयम् ।
सानन्दं स्मरतो भविष्यति मम प्राणप्रयाणोत्सवो,
भूयाद्भक्तिरविच्युता हरिहराद्वैतात्मिका शाश्वती ॥ ९ ॥

हे मातः जाह्नवी ! हे भगवान् शङ्करकी जटाओंमें वलय (कंकण) के समान आकारवाली ! देहावसानके समय मैं मस्तक नवाकर हाथ जोड़कर तुम्हारे पवित्र तटपर श्रीमन्नारायण भगवान् के दोनों चरणकमलोंका आनन्दपूर्वक एकाग्रतासे स्मरण करता हुआ मेरे

प्राण-प्रयाणका उत्सव हो, उस समय मेरी हरि-हरमें अभेद-भाव-वाली, अद्वैतात्मिका अविचल-अनन्या विशुद्ध प्रेम-भक्ति बनी रहे ।

गङ्गाष्टकमिदं पुण्यं, यः पठेत्प्रयतो नरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो, विष्णुलोकं स गच्छति ॥ १० ॥

जो मनुष्य शुद्ध होकर इस पवित्र गंगाष्टकका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर विष्णुलोकमें जाता है ।

॥ इति श्रीगङ्गाष्टकंसमाप्तम् ॥

——:०:——

श्रीगोविन्दाष्टकम्

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमनाकाशं परमाकाशं,
गोष्ठप्राङ्गणरिङ्गणलोलमनायासं परमायासम् ।
मायाकल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारं,
क्ष्मामानाथमनाथं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ १ ॥

जो परमात्मा सत्य (तीनकालमें भी अबाधित) ज्ञान एवं अनन्त (देश काल एवं वस्तुकृत परिच्छेदसे रहित) स्वरूप हैं । जो भूताकाशसे पृथक् होनेपर भी परम-चिदाकाश रूप हैं, अथवा छिद्ररहित-ठोस एवं नित्य-स्वयंप्रकाश-स्वरूप हैं । वही निराकार परमात्मा साकाररूपसे प्रकट होकर व्रजकी गो-शालाओंके प्राङ्गणमें गो-वत्सोंके पीछे दौड़नेमें चपल बाल-कृष्ण श्रीश्यामसुन्दर हैं । वस्तु-गत्या वह प्रभु संसारके तमाम श्रमसे रहित निर्विकार कूटस्थ हैं,

तथापि अनादि-अविद्याके सम्बन्धसे कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मोंका अनुभव करके श्रमयुक्त-से हो जाते हैं। यद्यपि वह परमात्मा निर्गुण-निराकार हैं, तथापि अघट-घटनापटीयसी माया-शक्तिके सम्बन्धसे विविध दिव्यादिव्य अनेक शरीरादि के आकारसे प्रतीत होते हैं एवं समस्त चतुर्दश-भुवनके आकारसे विश्वरूप-विराट् होकर प्रतीत होते हैं। जो पृथ्वीदेवी एवं लक्ष्मीदेवीके स्वामी हैं और आप स्वयं-अनाथ (विना स्वामीके) स्वतन्त्र हैं, उन परमानन्दप्रचुर गोविन्द-भगवान् श्रीकृष्ण-परमात्माको हे जीवो! आप लोग श्रद्धाभक्तिपूर्वक नमस्कार करो।

मृत्स्नामत्सीहेति यशोदाताडन-शैशव-संत्रासं,
व्यादितवक्त्रालोकितलोकालोकचतुर्दशलोकालिम्।
लोकत्रयपुरमूलस्तम्भं लोकालोकमनालोकम्,
लोकेशं परमेशं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्॥ २॥

'हे कृष्ण! इस दूध, दही, मक्खन आदि समस्त खाद्य-पदार्थ-युक्त गृहमें रहकर भी क्या तू मिट्टी खा रहा है? इसप्रकार पूछती हुई यशोदा-माता द्वारा की गई ताड़नासे बालकोचित-भयसे युक्त होकर, 'हे मातः! मैंने मिट्टी नहीं खाई है, अगर खाई है तो यह मेरा मुख देख' ऐसा कहकर मिट्टी न खानेका प्रमाण देने के लिए खोले हुए अपने मुखमें माताको लोकालोक-पर्वतसहित चौदह लोकोंके समुदायको दर्शन करानेवाले प्रभु श्रीकृष्ण ही भूर्भुवः स्वः ये तीन लोकरूपी पुरके कारणरूप आधार स्तम्भ हैं। अन्यके प्रकाशसे स्वयं

प्रकाशित न होने पर भी जो अपनी स्वतःज्योतिसे समस्त लोकोंके प्रकाशक-एवं ब्रह्मादि देवोंके भी नियन्ता ईश्वर अन्तर्यामी हैं, उन परमानन्दस्वरूप गोविन्द-भगवान्-श्रीकृष्ण परमात्माको हे जीवो! आप-लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमस्कार करो।

त्रैविष्टपरिपुवीरघ्नं क्षितिभारघ्नं भवरोगघ्नं,
कैवल्यं नवनीताहारमनाहारं भुवनाहारम्।
वैमल्यस्फुटचेतोवृत्ति-विशेषाभासमनाभासं,
शैवं केवलशान्तं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्॥ ३॥

जो प्रभु, स्वर्गके शत्रु रावणादि वीरोंको ध्वंस करनेवाले, एवं पृथ्वीके पापमय भारको हरनेवाले हैं, सद्गुरुरूपसे संसारके जन्म-मरणरूप रोगको मिटानेवाले, कैवल्य-मोक्षस्वरूप हैं, प्रेमभक्तिके वश होकर मक्खनका भोजन करनेवाले होने पर भी वस्तुगत्या स्वयं-आहारसे रहित हैं, एवं जो विश्वके भक्षक हैं, अथवा जो सच्चिदानन्द स्वरूपके साक्षात्कारसे सम्पूर्ण जगत्को चिन्मात्रावशेष करनेवाले हैं, जो रागादि-दोषरहित विशुद्ध-ब्रह्माकारमय चित्तवृति में विशेष-रूपसे प्रकट होते हैं, पर-प्रकाशसे प्रकाशित न होने वाले स्वयं-प्रकाश स्वतःसिद्ध हैं। जो परमार्थतः कल्याण-स्वरूप एवं दृश्य-प्रपञ्च के संसर्गसे रहित शान्त हैं, ऐसे परमानन्दस्वरूप गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माको हे जीवो! आप लोग श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रणाम करो।

गोपालं प्रभुलीलाविग्रहगोपालं कुलगोपालं,
गोपीखेलनगोवर्धनधृतिलीलालालितगोपालम्।

गोभिर्निगदितगोविन्दस्फुटनामानं बहुनामानं,
गोधीगोचरदूरं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ४ ॥

जो प्रभु गौओंका पालन करनेवाले, एवं सर्वशक्तिमान् होनेके कारण लीलाके लिये दिव्य-शरीर धारण करके वैदिक-मर्यादाकी रक्षा करनेवाले हैं। जो प्रभु कुलगोपाल हैं यानी (कु=पृथ्वी, ल=लीन, गो=इन्द्रिय) पृथ्वीमें लीन होनेवाले शरीर एवं इन्द्रियोंकी प्रेरणा करनेवाले हैं। गोपियोंके साथ खेल-[क्रीडा] करनेके लिये गोवर्धन-पर्वतको अंगुली पर धारणकर लीला-[अनायास] से एवं बड़े प्यारसे जो गोपोंकी रक्षा करनेवाले हैं। वेदोंके द्वारा कहा गया 'गोविन्द' ऐसे स्पष्ट नामवाले होने पर भी जो राम कृष्णादि अनेक नाम वाले हैं। इन्द्रिय एवं बुद्धिकी विषयतासे पर यानी उनसे जो अगम्य हैं, ऐसे परमानन्दस्वरूप गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माको हे जीवो! आप लोग श्रद्धाभक्तिपूर्वक नमस्कार करो।

गोपीमण्डलगोष्ठीभेदं भेदावस्थमभेदाभं,
शश्वद्गोखुरनिर्धूतोद्धृतधूलीधूसरसौभाग्यम् ।
श्रद्धाभक्तिगृहीतानन्दमचिन्त्यं चिन्तितसद्भावं,
चिन्तामणिमणिमानं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ५ ॥

जो परमप्रेममयी-भक्तिमती गोपियोंके मण्डलके साथ क्रीडा विशेष करनेवाले हैं, गोप, गोपी, गो, वत्स, आदि अनेक रूपोंसे अवस्थित होने पर भी जो वास्तवमें उन सबके साथ अभेदरूपसे प्रकाशमान

हैं। गौओंके खुरोंसे निरन्तर उड़ी हुई परम पवित्र धूलिसे पाण्डु-वर्ण होकर जो इससे अपना सौभाग्य माननेवाले हैं। सात्त्विक श्रद्धा एवं विशुद्ध-प्रेमभक्तिके द्वारा जो परमानन्दरूपसे ग्रहण करने योग्य हैं, वस्तुगत्या जो शब्दशक्ति एवं बुद्धिशक्तिसे भी अचिन्त्य हैं तथापि श्रुतियोंके द्वारा जिसका सद्भाव (सत्ता)निश्चित है। जो अत्यन्त सूक्ष्म-दुर्लक्ष्य हैं, तथापि जो 'चिन्तामणि' के समान भक्तोंके मनकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले हैं, ऐसे परमानन्दस्वरूप गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माको हे जीवो! आप लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम करो।

स्नानव्याकुलयोषिद्वस्त्रमुपादायागमुपारूढं,
व्यादित्सन्तीरथ दिग्वस्त्रा ह्युपादातुमुपकर्षन्तम्।
निर्धूतद्वयशोकविमोहं बुद्धं बुद्धेरन्तस्थं,
सत्तामात्रशरीरं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्॥ ६॥

जो प्रभु, स्नान करनेमें व्यग्र गोपियोंके वस्त्रोंको लेकर कदम्ब वृक्षके ऊपर चढ़ गये थे, एवं दिगम्बर (नग्न) होनेके कारण वस्त्र ग्रहण करनेकी इच्छावाली गोपियोंको वस्त्र देनेके लिये अपने समीप बुलाने लगे थे, ऐसी-विलक्षण-लीलायुक्त होनेपरभी जिसमें शोक एवं मोह दोनोंका अत्यन्त अभाव है, अथवा इन दोनोंके मिटानेवाले हैं जो स्वयंप्रकाश, विज्ञानघन, एवं सबकी बुद्धिमें साक्षी-द्रष्टा रूपसे वर्तमान हैं, जिसका सत्तामात्र-एकरस त्रिकाला-बाध्य अविनाशी

स्वरूप है, ऐसे परमानन्द स्वरूप गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा को हे जीवो ! आप लोग श्रद्धाभक्तिपूर्वक नमस्कार करो ।

कान्तं कारणकारणमादिमनादिं कालघनाभासं,
कालिन्दीगतकालियशिरसि नृत्यन्तं बहुनृत्यन्तम् ।
कालं कालकलातीतं कलिताशेषं कलिदोषघ्नम्,
कालत्रयगतिहेतुं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ७ ॥

जो परमसुन्दर एवं सर्व जगत्का कारण-प्रकृतिका भी कारण-अधिष्ठान हैं, जो सबका आदि-उत्पत्ति-स्थान एवं स्वयं अनादि (कारण-रहित) हैं, प्रलय-कालके मेघके समान मनोहर श्याम-सुन्दर हैं, कालिन्दी-यमुनामें रहनेवाले कालिय-नागके फनपर नृत्य करनेवाले, एवं अनेक-रूपोंसे विविध नृत्य करनेवाले हैं, जगत् के संहारकर्ता महाकालरूप हैं। भूत, भविष्यत्, एवं वर्तमानरूप काल और त्रुटि, निमेष, काष्ठा आदि कलासे भी अतीत हैं। सम्पूर्ण विश्वके रचनेवाले एवं कलियुगके दोषोंका ध्वंस करनेवाले हैं। प्रातः मध्यान्ह एवं सायं इन तीन कालोंकी शीघ्रगतिके कारण हैं, ऐसे परमानन्दरूप गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माको हे जीवो ! आपलोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम करो ।

वृन्दावनभुवि वृन्दारकगणवृन्दाराधितवन्द्येहं,
कुन्दाभामलमन्दस्मेरसुधानन्दं सुहृदानन्दम् ।
वन्द्याशेषमहामुनिमानसवन्द्यानन्दपदद्वन्द्वं,
वन्द्याशेषगुणाब्धिं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ८ ॥

वृन्दावनकी पवित्र भूमिमें रासलीलाके समय देवताओंके समुदायसे तथा 'वृन्दा' नामकी वनदेवतासे पूजित एवं प्रशंसित दिव्य-क्रीड़ावाले एवं कुन्दपुष्प (चमेली) के समान सुशोभित निर्मल मन्द हास्यसे अमृततुल्य परमानन्द देनेवाले हैं। सर्वभूतोंके सुहृद्—भक्तजनके लिये जो परमसुखरूप हैं एवं विश्व-वन्दनीय अशेष नारदादि महामुनियों के मानस-भवनमें जिनके परमपावन आनन्दप्रद ध्येय चरणकमल विद्यमान हैं। जो अशेष शान्त्यादि कल्याण गुणगणके समुद्र हैं, ऐसे परमानन्द स्वरूप गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण-परमात्माको हे जीवो! आपलोग श्रद्धाभक्तिपूर्वक नमस्कार करो।

गोविन्दाष्टकमेतदधीते गोविन्दार्पितचेता यो,
गोविन्दाच्युत माधव विष्णो गोकुलनायक कृष्णेति।
गोविन्दाङ्घ्रिसरोजध्यानसुधाजलधौतसमस्ताघो,
गोविन्दं परमानन्दामृतमन्तस्थं स समभ्येति॥ ९॥

गोविन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें अपने चित्तको अर्पण यानी एकाग्र करके, और श्रीगोविन्द-प्रभुके चरणकमलोंका ध्यानरूप अमृत जलसे समस्त पापोंका विनाश करके, जो प्रभु-प्रेमी महानुभाव, हे गोविन्द! हे अच्युत! हे माधव! हे विष्णो! हे गोकुलनायक! हे कृष्ण! इत्यादि प्रभुके परमपावन नामोंको भक्तिपूर्वक पुकार कर इस गोविन्दाष्टकका प्रेमपूर्वक पाठ करता है, वह प्रभु-भक्त, निःसन्देह परमानन्द-स्वरूप, अमृत-स्वरूप, एवं सर्वभूतोंके हृदयमें साक्षीरूपसे स्थित गोविन्द भगवान् को प्राप्त होता है।

॥ इति श्रीगोविन्दाष्टकंसमाप्तम् ॥

उपदेश-पञ्चकम्

जिस समय महेश्वर-परावतार भगवान् आचार्य श्रीशङ्कर स्वामी जीका वैदिक-धर्मका उद्धार एवं अवैदिक-धर्मका मर्दनरूपी अवतार-कार्य समाप्त हुआ। और श्रीशङ्कर स्वामीजी महाकैलासका प्रस्थान करनेके लिये उद्युक्त हुये, उस समय श्रीस्वामीजीके समीप अनेक गृहस्थ, ब्रह्मचारी, एवं संन्यासी शिष्य मण्डली विशेषरूपसे उपस्थित थी, क्योंकि-प्रथमसे ही उनलोगोंको श्रीस्वामीजीने अपने प्रस्थानका समय बतला दिया था। उस सभी प्रकारकी शिष्य-मण्डलीकी विनम्र प्रार्थनासे श्रीशङ्करस्वामीजी अन्तिम उपदेश देने लगे, जो पांच श्लोकोंमें संक्षिप्त है—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्,
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥ १ ॥

सदा ऋगादि वेदोंका अध्ययन करो। वेदोंमें कहे हुए याग, दान, होम, तप, जप आदि शुभ कर्मोंका श्रद्धा-भक्तिके साथ अनुष्ठान करो। इन शुभ कर्मोंके ब्रह्मार्पण द्वारा एकमात्र उस जगदन्तर्यामी, चराचरव्यापी, परमेश्वरकी निष्काम प्रेमसे उपासना करो। इस असार

संसारकी तुच्छ कामनाओंमें, अथवा सकामकर्मोंमें, अपने चित्त को न लगाओ। बुरी वासनारूप पाप समुदायका सदाचार एवं सद्विचारसे नाश करो। संसारके क्षणिक, दुःख-बहुल, नाममात्रके विषय-सुखोंमें दोषोंका वारंवार अनुसंधान करो। प्रबल तत्त्वजिज्ञासाके लिए विवेकादिद्वारा महाप्रयत्न करो। अधिकार परिपक्व होनेपर ममतास्पद-गृह का शीघ्र ही त्याग करदो अर्थात् संन्यास ग्रहण करो।

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढाऽऽधीयताम् ,
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यताम् ,
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥ २ ॥

सदाचारी, उदार-चरित, पवित्र, महानुभावोंका सदा संग करो। उस-जगन्नियन्ता, आनन्दनिधि, विश्वनाथ, भगवान् में अनन्य, निष्काम, प्रेममयी दृढ़ भक्ति धारण करो। शान्ति, दान्ति, उपरति, आदि दैवी गुणोंका निरन्तर सञ्चय करो। राग-द्वेष-प्रचुर, व्यग्रता-सम्पादक-कर्मोंका शीघ्रही परित्याग करो। ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, विरक्त, विद्वान् महापुरुषोंके सदा समीप जाओ, और उन महापुरुषोंकी पाँदुकाओंका सेवन करो, यानीउनकीयथाशक्य सेवा-शुश्रुषा करके उनके सदुपदेशरूप-आज्ञाओंका पालन कर उनके कृपापात्र बनो। ॐरूप-एकाक्षर ब्रह्मका अर्थानुसंधानपूर्वक निरन्तर चिन्तन करो। और वेदोंका सर्वोत्तम-शिरोभागरूप-उपनिषद् के महावाक्योंका अर्थ सहित उन महापुरुषोंसे श्रवण करो।

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयताम् ,
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम् ।
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यताम् ,
देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ॥ ३ ॥

'अयमात्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि महावाक्योंके अर्थ का उन महापुरुषोंके द्वारा एकाग्रतासे विचार करो। वेद-शिरोमणि-उपनिषद्-भागसे प्रतिपादन किया हुआ अद्वैत सिद्धान्तरूप-पक्षका बड़े ही आदरपूर्वक आश्रय करो। बहिर्मुख-दुराग्रही मनुष्य-परिकल्पित, प्रमाणशून्य झूठे तर्क-वितर्कोंसे उपराम-रहो, श्रुति-सम्मत सत्तर्कोंका अनुसंधान करो। 'मैं सच्चिदानन्द-परि-पूर्ण-नित्य-शुद्ध-बुद्ध—ब्रह्म-हूँ' इस-प्रकार निरन्तर अपने असली आत्मस्वरूपकी दृढ़ भावना रक्खो। जाति, कुल, विद्या, आदि मायिक पदार्थोंका गर्व अभिमान एकदम छोड़ दो। क्षणभङ्गुर, तुच्छ, मलीन शरीर आदिमें अहं बुद्धिका शीघ्रही परित्याग करो। श्रद्धेय, ब्रह्मनिष्ठ, विरक्त, विद्वानोंके साथ मिथ्या वाद विवाद मत करो। यानी उनसे बतलाये हुए शास्त्र-सम्मत सत्पथका श्रद्धाके साथ अवलम्बन करो।

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम् ,
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम् ।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यताम् ,
औदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥ ४ ॥

क्षुधारूप-रोगके निवारणके लिये प्रतिदिन भिक्षारूपी औषधि का सेवन करो यानी औषधिकी तरह भिक्षाऽन्नका अनासक्तिसे सेवन करो। स्वादिष्ट-भोजनकी कदापि अभिलाषा न करो। प्रारब्धवश जैसी भिक्षा मिल जाय उसीमें ही संतोष करो। शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख, आदि द्वन्द्वोंको आनन्दसे एवं निश्चिन्त भावसे सहन करो। भूलसे भी कभी व्यर्थ वाक्यका उच्चारण मत करो। उदासीनता यानी असङ्ग-निर्विकार-शान्त अवस्था हरदम धारण करो। और अन्य मनुष्योंकी कृपाकी इच्छा तथा निष्ठुरता का परित्याग करो।

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम् ,
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम् ,
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥ ५ ॥

एकान्त, पवित्र, शान्त-स्थानमें बड़ी ही प्रसन्नताके साथ बैठो। उस सच्चिदानन्द सर्वात्मा नारायण-तत्त्वमें अपने चञ्चल-चित्तको स्थिर करो। ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, सभी दिशाओंमें ठसा-ठस परिपूर्ण उस एकमात्र पूर्णात्मा ब्रह्मका ही अनुसंधान करो। नाम-रूपात्मक जगत् को मिथ्या-कल्पित-समझकर उसका अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्वमें बाध कर दो। निर्मल-तत्त्वज्ञान के प्रभावसे सञ्चित कर्मोंका नाश कर दो एवं क्रियमाण कर्मोंसे लिपायमान मत होओ। यहीं आन-

न्दसे प्रारब्धकर्म भोग लो। और सदा सर्वथा अपने आत्माकी परब्रह्ममय स्थिति सम्पादन करो।

यः श्लोकपञ्चकमिदं प्रपठन् मनुष्यः,
संचिन्तयत्यनुदिनं स्थिरतामुपेत्य।
तस्याशु संसृतिदवानलतीव्रघोर-
तापप्रशान्तिमुपयाति चितिप्रसादात्॥

जो कोई सज्जन, आचार्यश्रीशङ्करस्वामीप्रणीत इन पांच श्लोकोंका बड़े प्रेमसे पाठ करता है, और प्रतिदिन चित्तकी एकाग्रताके साथ उनके अर्थोंका चिन्तन करता है। शुद्ध आनन्द-चेतन परब्रह्म की विमल कृपासे उसके संसाररूपी दावानलसे पैदा होनेवाले आध्यात्मिक आदि, तीव्रतर तापोंकी शान्ति हो जाती है।

॥ इति उपदेशपञ्चकंसमाप्तम् ॥

काशी-पंचकम्

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः, सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च।
ज्ञानप्रवाहा विमलादिगंगा, सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ १ ॥

संकल्प-विकल्परूप मनकी निवृत्तिरूप जो संसार की परम उपशान्ति है, वही सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ मणिकर्णिका तीर्थ है। और 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्म-

कारज्ञानरूप वृत्तियोंका सतत प्रवाह ही निर्मलता आदि गुणोंवाली श्री भगवती गंगाजी है। और अखण्ड अद्वितीय स्वस्वरूपका अपरोक्ष अनुभव ही श्रीकाशीजी है। वही स्वप्रकाश ब्रह्मरूप काशी मैं हूँ।

यस्यामिदं कल्पितमिन्द्रजालं, चराचरं भाति मनोविलासम्।
सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा, सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ २ ॥

जिस सर्वाधिष्ठान ब्रह्मरूप काशीमें यह समस्त नामरूपात्मक जगत् इन्द्रजालके समान कल्पित है। यानी रस्सीमें सर्पकी तरह अध्यस्त है। इसलिये वस्तुगत्या न होता हुआ भी यह चराचर विश्व, केवल मनकी अविद्यामयी कल्पनाओंसे ही दिखाई दे रहा है। सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप एक-अद्वितीय-परमात्म-तत्त्व-अखण्ड अनुभवरूप जो स्वप्रकाश काशी है, वही मैं हूँ।

कोशेषु पंचस्वधिराजमाना, बुद्धिर्भवानी प्रतिदेहगेहम्।
साक्षी शिवः सर्वगतोऽन्तरात्मा, सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥ ३ ॥

प्रत्येक प्राणियोंके देहरूपी गृहके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, एवं आनन्दमयरूपी पांचकोशों में विवेक विचारवाली जो बुद्धि विराजमान है, वही साक्षात् भवानी-पार्वती है। और सर्वत्र सदा परिपूर्ण सबका अन्तरात्मा साक्षी-कूटस्थरूप जो शिव है, वही स्वप्रकाश अखण्ड-साक्षात्काररूप काशी है, वही मैं हूँ।

काश्यां हि काशते काशी, काशी सर्वप्रकाशिका।
सा काशी विदिता येन, तेन प्राप्ता हि काशिका ॥ ४ ॥

शरीररूप या नगररूपसे प्रसिद्ध स्थूल-जड़-काशी में चेतनरूप-सूक्ष्म-काशी प्रकाश रही है, यानी चेतनरूप .काशी 'सब शहर सबलोक एवं सब पदार्थोंको प्रकाश करती है। जिस महानुभावने उस स्वयं ज्योतिस्वरूप अन्तरात्मरूप काशीको जान लिया है, उसने ही वास्तवमें काशीकी प्राप्ति की है।

काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजठरे व्यापिनी ज्ञानगंगा,
भक्तिः श्रद्धा गयेयं, निजगुरुचरणध्यानयोगः प्रयागः।
विश्वेशोऽयं तुरीयः, सकल-जनमनः साक्षीभूतोऽन्तरात्मा,
देहे सर्वं मदीये यदि, वसति पुनस्तीर्थमन्यत्किमस्ति ॥ ५ ॥

विचित्र-एवं अद्भुत-रचनावाला यह शरीर ही काशी क्षेत्र है, तीनों भुवनोंमें ओत-प्रोतरूपसे व्याप्त होकर रहनेवाला जो चेतन-ज्ञान है, वही श्री गंगाजी है, उस चेतन-तत्त्वमें अनन्य-भक्ति और सात्त्विक श्रद्धा ही श्रीगया तीर्थ है। अद्वैत-ब्रह्मात्म-तत्त्वके उपदेशक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु के चरणोंका ध्यान-योग ही श्रीप्रयाग तीर्थ है। तथा सकल प्राणियोंके सभी ही मनोंका साक्षीरूप निर्विकार जो तुरीय अन्तरात्मा है, वही श्रीकाशी विश्वेश्वर महाप्रभु हैं। इस प्रकार जब इस मेरे देहरूपी काशीमें ही सब असली तीर्थ बसते हैं, तब मुझे अन्य स्थूल नकली तीर्थोंकी क्या आवश्यकता है?। यानी स्थूल तीर्थका सेवन सूक्ष्मतीर्थके साक्षात्कारके लिये है, जब सूक्ष्म-तीर्थका साक्षात्कार हो जाता है, तब स्थूल तीर्थोंकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे भोजन जन्य तृप्तिके लिये ही प्रथम

पत्तल, दोना आदिका ग्रहण किया जाता है, जब तृप्ति हो जाती है, तब उन पत्तल आदिको फेंक दिया जाता है, उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न-तब क्या प्रसिद्ध काशी आदि तीर्थ, तीर्थरूप नहीं हैं।

उत्तर-लौकिक स्थूल काशीआदि तीर्थ, प्रपञ्चासक्त मनुष्योंके लिये ही तीर्थ रूप हैं, वे उनको सन्मार्ग में प्रवृत्त करनेके लिये अवलम्बन हो जाते हैं। विरक्त विद्वान् महापुरुष उन स्थूल तीर्थोंसे ही सन्तुष्ट नहीं होते। जो स्थूल-स्थानोंको ही तीर्थ मानता है, उसको स्थूल ही फल होता है। प्रत्येक स्थूल-तीर्थोंका भाव (रहस्य) सूक्ष्म-अध्यात्मिक तीर्थोंमें ही पर्यवसन्न होता है। जैसे शास्त्रमें कहा है-काशीको श्रीशंकरने त्रिशूलके ऊपर रक्खा है, इसलिये उसका प्रलयमें भी नाश नहीं होता, इत्यादि। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य, उसका आध्यात्मिक-रहस्य समझे विना 'सिर्फ स्थूल-काशी प्रलयमें भी नाश रहित है, ऐसा कैसे मान सकता है? स्थूल काशी ऐसी किसप्रकार हो सकती है? उसका आध्यात्मिक रहस्य इस प्रकार है—भगवान् श्रीशंकर कल्याण स्वरूप हैं, सर्वके आत्मा हैं, स्वयं-प्रकाशमान साक्षी हैं। उनका त्रिशूल, मायाके सत्त्व रजः और तमोरूप तीनों गुण हैं। उनके ऊपर अर्थात् गुणातीत-भावमें काशी को रक्खा गया है, गुणातीतका ही प्रलयमें नाश नहीं होता, अतः वह काशी चेतन स्वरूप है। जैसे स्थूल काशीमें स्थूल गंगाका प्रवाह है, वैसे उस चेतन काशीमें ब्रह्माकार-वृत्तिका प्रवाह रूप ज्ञानमयी गंगा है।

जैसे स्थूल गंगा निर्मल होनेके कारण दूसरोंको भी निर्मल करती है, वैसे ही ज्ञान-गंगा भी परम-पवित्र होनेसे अन्योंको भी परम-पवित्र बना देती है। भगवान् ने गीतामें कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (४।३८)

ज्ञानके समान इस संसारमें और कोई पवित्र वस्तु नहीं है।

अतः जिस महापुरुषको सर्वोत्तम विशुद्ध-आत्म-तीर्थका पूर्णरूपसे साक्षात्कार हो जाता है, तब उसको लौकिक तीर्थोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। लौकिक-तीर्थ वैराग्य, तितिक्षा, सत्संगति आदिके द्वारा आत्म-तीर्थकी प्राप्तिमें सहायक हैं। जब तीर्थोंका भी तीर्थरूप महान्-सर्वव्यापक विशुद्ध-आत्मा की प्राप्ति हो जाती है, तब स्वभावसे ही तमाम स्थूल-परिच्छिन्न-तीर्थोंका उस अपरिच्छिन्न तीर्थमें समन्वय हो जाता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है-

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषुवेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (गी० २।४६)

जैसे सब ओरसे परिपूर्ण बड़े जलाशयके प्राप्त होजाने पर मनुष्यको जलके लिये छोटे क्षुद्र जलाशयोंकी आवश्यकता नहीं रहती है, वैसे ही ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मणको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होने पर आनन्दके लिये वेदोंकी एवं वेदोक्त कर्म, उपासना एवं तीर्थादिकोंकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती।

॥ इति श्रीकाशीपंचकं समाप्तम्॥

——:०:——

वेदान्त-सुधा

[शतश्लोकीसमुद्धृतकतिपयश्लोकसंग्रहः]

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः,
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम् ।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये,
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वाऽलौकिकोऽपि ॥ १ ॥

इस त्रिलोकीमें ज्ञानदाता सद्गुरुकी कोई उपमा नहीं देखी गयी। यदि उन्हें पारसकी उपमा दी जाय तो वह लोहेको केवल सोना बना देता है—उसे पारस नहीं बनाता। किन्तु सद्गुरु तो अपने युगल चरणोंका आश्रय लेनेपर शिष्यको अपने ही समान बना लेते हैं। इसलिये वे उपमारहित और अलौकिक हैं।

यद्वच्छ्रीखण्डवृक्षप्रसृतपरिमलेनाभितोऽन्येऽपि वृक्षाः,
शश्वत्सौगन्ध्यभाजोऽप्यतनुतनुभृतां तापमुन्मूलयन्ति ।
आचार्याल्लब्धबोधा अपि विधिवशतः संनिधौ संस्थितानां,
त्रेधा तापं च पापं सकरुणहृदयाः स्वोक्तिभिः क्षालयन्ति ॥ २ ॥

जिस प्रकार चन्दनवृक्षकी फैली हुई सुगन्धसे सदा सुवासित होकर आस-पासके अन्यवृक्ष भी स्थूल शरीरधारी प्राणियोंके तापको शान्त कर देते हैं, उसी प्रकार जिन्हें सद्गुरुसे आत्मतत्त्वका ज्ञान

प्राप्त हो गया है, वे दयालुचित्त पुरुष अपने उपदेशसे अपने समीपवर्ती पुरुषोंके आध्यात्मिकादि तीनों प्रकारके ताप और कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकारके पापोंको धो डालते हैं।

आत्मा चिद्वित्सुखात्मानुभवपरिचितः सर्वदेहादियन्ता,
सत्येवं मूढबुद्धिर्भजति ननु जनोऽनित्यदेहात्मबुद्धिम्।
बाह्येऽस्थिस्नायुमज्जापलरुधिरवसाचर्ममेदोयुगन्त-
र्विण्मूत्रश्लेष्मपूर्णं स्वपरवपुरहो संविदित्वापि भूयः ॥ ३ ॥
देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचरहयवृषास्तोषहेतुर्ममेत्थं,
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह।
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो येन सौभाग्यभाज-
स्तं प्राणाधीशमन्तर्गतममृतममुं नैव मीमांसयन्ति ॥ ४ ॥

आत्मा सत्, चित् और सुखस्वरूप है; वह अनुभवद्वारा सकल देहादिका नियन्ता माना गया है। ऐसा होनेपर भी मूढबुद्धि पुरुष सर्वदा इस अनित्य-देहमें ही आत्मबुद्धिका सेवन करता है। सब लोग अपने और पराये शरीरोंको बाहरसे हड्डी, स्नायु, मज्जा, मांस, रुधिर, चर्बी और मेदयुक्त तथा भीतरसे मल, मूत्र और कफादिसे भरा हुआ जानकर भी, ये देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेवक घोड़े और बैल मेरे सुखके साधन हैं— ऐसा समझकर इस मांस-मीमांसामें ही अपने सुप्रसिद्ध मानवजीवनको नष्ट कर देते हैं, और जिसके द्वारा ये सब जीवन धारण करते हैं, अपने-अपने

व्यवहारमें समर्थ होते हैं, तथा जो इनके सौभाग्यका कारण है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उस प्राणाधीश अमृत-तत्त्वका वे मूढ जीव कुछ भी विचार नहीं करते हैं।

स्वं बालं रोदमानं चिरतरसमयं शान्तिमानेतुमग्रे,
द्राक्षं खार्जूरमाम्रं सुकदलमथवा योजयत्यम्बिकाऽस्य।
तद्वच्चेतोऽतिमूढं बहुजननभवान्मौढ्यसंस्कारयोगा-
द्बोधोपायैरनेकैरवशमुपनिषद्बोधयामास सम्यक् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार चिरकालसे रोते हुए अपने बालकको शान्त करनेके लिये माता उसके आगे अंगूर, खजूर, आम अथवा केला आदि रख देती है, उसी प्रकार अनेकों वार उत्पन्न होने और मरनेके कारण मूढताके संस्कारोंका योग होनेसे अति मुग्ध और विवश हुए इस चित्तको उपनिषद्ने बोधप्राप्तिके अनेकों उपायोंद्वारा खूब समझाया है।

यत्प्रीत्या प्रीतिमात्रं तनुयुवतितनूजार्थमुख्यं स तस्मा-
त्प्रेयानात्माऽथ शोकास्पदमितरदतः प्रेय एतत्कथं स्यात्।
भार्याद्यं जीवितार्थी वितरति च वपुः स्वात्मनःश्रेय इच्छं-
स्तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत विद्वान्न चान्यत् ॥ ६ ॥

जिसकी प्रीतिसे ही अपना शरीर, स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रीतिपात्र होते हैं, वह आत्मा ही उन सबसे अधिक प्रिय-तम है। आत्माके सिवा और सब पदार्थ तो शोकके ही स्थान हैं; इसलिये वे

प्रिय कैसे हो सकते हैं ? यह बात स्पष्ट देखनेमें आती है कि-अपने जीवनको बचानेके लिये मनुष्य स्त्री आदिको न्योछावर कर देता है, और अपने सुखके लिये (कोई घोर विपत्ति उपस्थित होनेपर) अपना शरीर भी दे डालता है। इसलिये विद्वान् को चाहिये कि-सबसे अधिक प्रिय अपने आत्माकी ही उपासना करे, और किसीकी नहीं।

श्रेयः प्रेयश्च लोके द्विविधमभिहितं काम्यमात्यन्तिकं च,
काम्यं दुःखैकबीजं क्षणलवविरसं तच्चिकीर्षन्ति मन्दाः।
ब्रह्मैवात्यन्तिकं यन्निरतिशयसुखस्यास्पदं संश्रयन्ते,
तत्त्वज्ञास्तच्च काठोपनिषदभिहितं षड्विधायां च वल्ल्याम् ॥ ७॥

लोकमें श्रेय (कल्याण-समुन्नति) और प्रेय (प्रिय लगनेवाले पदार्थ) दोनों ही काम्य और आत्यन्तिक रूपसे दो-दो प्रकारके बताये गये हैं। उनमें काम्य— श्रेय (स्वर्गादि) और प्रेय (स्त्री-पुत्रादि) तो एकमात्र दुःखके ही बीज और पलभरमें ही फीके पड़ जानेवाले हैं- उन्हें मूर्खलोग ही प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु आत्यन्तिक [श्रेय एवं प्रेय] तो ब्रह्म ही है, जो सर्वाधिक अखण्ड-सुखका स्थान है और जिसका तत्त्वज्ञानी पुरुष ही आश्रय लेते हैं। उसका कठोपनिषद्की छः प्रकारकी वल्लियोंमें निरूपण किया गया है।

आत्माम्भोधेस्तरङ्गोऽस्म्यहमिति गमने भावयन्नासनस्थः,
संवित्सूत्रानुविद्धो मणिरहमिति वाऽस्मीन्द्रियार्थप्रतीतौ।
दृष्टोऽस्म्यात्मावलोकादिति शयनविधौ मग्न आनन्दसिन्धा-
वन्तर्निष्ठो मुमुक्षुः स खलु तनुभृतां यो नयत्येवमायुः ॥ ८॥

जो मनुष्य चलते समय ऐसी भावना करता है कि-'मैं आत्मारूपी समुद्रकी ही एक तरंग हूँ' आसनपर स्थित होते समय सोचता है कि-'मैं सर्वानुगत ज्ञानरूपी धागेमें पिरोया हुआ एक मनका हूँ' तथा इन्द्रियोंके विषयोंकी प्रतीति होनेपर अकस्मात् यह समझने लगता है कि-'अहा! मैं तो उनमें आत्माका ही दर्शन करके आनन्दित हो रहा हूँ' और जब सो जाता है तो अपनेको आनन्दसमुद्रमें ही डूबा हुआ जानता है। देहधारियोंमें जो पुरुष इस प्रकार अपनी जीवनयात्राका निर्वाह करता है, वह निश्चय ही एक अन्तर्निष्ठ मुमुक्षु है।

नैर्वेद्यं ज्ञानगर्भं द्विविधमभिहितं तत्र वैराग्यमाद्यं,
प्रायो दुःखावलोकाद्भवति गृहसुहृत्पुत्रवित्तैषणादेः।
अन्यज्ज्ञानोपदेशाद्यदुदितविषये वान्तवद्धेयता स्या-
त्प्रव्रज्यापि द्विधा स्यान्नियमितमनसां देहतो गेहतश्च ॥ ९ ॥

नैर्वेद्य और ज्ञानगर्भ नामोंसे वैराग्य दो प्रकारका कहा गया है। इनमें प्रथम (नैर्वेद्य) प्रायः घर, मित्र, पुत्र और धनादिकी लालसामें दुःखोंको देखनेसे हुआ करता है; और दूसरा ज्ञानोपदेश प्राप्त कर चुकनेपर उक्त वस्तुओंमें वमन किये हुए पदार्थके समान हेयबुद्धि हो जानेसे होता है। इसी प्रकार संयमी पुरुषोंका संन्यास भी दो प्रकारका ही होता है। प्रथम वे घरका त्याग करते हैं और फिर देहका अभिमान भी छोड़ देते हैं।

यः कश्चित्सौख्यहेतोस्त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतो-
र्देहेऽहंता तदुत्था स्वविषयममता चेति दुःखास्पदे द्वे।

जानन्रोगाभिघाताद्यनुभवति यतो नित्यदेहात्मबुद्धि-
र्भार्यापुत्रार्थनाशे विपदमथ परामेति नारातिनाशे ॥१०॥

त्रिलोकीमें जितने जीव हैं, वे सब सुखके लिये ही प्रयत्न करते हैं—दुःखके लिये नहीं। दुःखके स्थान दो ही हैं—प्रथम देहमें अहं-बुद्धि होना और दूसरे उस अहं-बुद्धिसे आत्मीय (देह-पुत्रादि) विषयोंमें ममता उत्पन्न हो जाना। इसीसे लोग [आत्माको शरीरसे भिन्न] जानकर भी मोहवश इस शरीरमें ही नित्य आत्मबुद्धि कर उसके रोग और आघात आदिका कष्ट सहते हैं, तथा ममताके कारण ही स्त्री या पुत्रके नष्ट हो जानेपर तो बड़ी विपद्में पड़ जाते हैं, किन्तु शत्रुके नष्ट होनेपर नहीं।

तिष्ठन्गेहे गृहेशोऽप्यतिथिरिव निजं धाम गन्तुं चिकीर्षु-
र्देहस्थं दुःखसौख्यं न भजति सहसा निर्ममत्वाभिमानः।
आयात्रायास्यतीदं जलदपटलवद्यातृ यास्यत्यवश्यं
देहाद्यं सर्वमेवं प्रविदितविषयो यश्च तिष्ठत्ययत्नः ॥११॥

जिसे [गृह आदिमें] ममत्वका अभिमान नहीं है, वह गृहस्थ पुरुष भी, अपने निर्दिष्ट स्थानको जानेकी इच्छावाले अतिथिके समान गृहमें रहता हुआ भी इस शरीरके सुख-दुःखसे सहसा लिप्त नहीं होता। वह जानता है कि-आकाशमें स्वतः ही उठने और लीन होने-वाले बादलोंके समान ये शरीरादि समस्तवर्गमें जो पदार्थ आनेवाले हैं, वे अवश्य आयेंगे और जिन्हें जाना है, वे अवश्य चले जायँगे,

[इससे आकाशस्वरूप मुझ आत्माका कोई हानि-लाभ नहीं है] इस प्रकार यथावत् जानकर वह किसी प्रकारका यत्न नहीं करता हुआ निश्चिन्त शान्त एवं निस्पृह रहता है।

कामो बुद्धावुदेति प्रथममिह मनस्युद्दिशत्यर्थजातं,
तद्गृह्णातीन्द्रियास्यैस्तदनधिगमतः क्रोध आविर्भवेच्च।
प्राप्तावर्थस्य संरक्षणमतिरुदितो लोभ एतत्त्रयं स्यात्,
सर्वेषां पातहेतुस्तदिह मतिमता त्याज्यमध्यात्मयोगात् ॥१२॥

सबसे पहले बुद्धिमें कामहीका उदय होता है। इससे मनुष्य मनमें नाना प्रकारके पदार्थोंका संकल्प करके उन्हें अपने इन्द्रियरूप मुखोंसे ग्रहण करने लगता है। जब उनकी प्राप्तिमें बाधा पड़ती है तो क्रोधका आविर्भाव हो जाता है। और यदि वे पदार्थ प्राप्त हो गये तो उनकी रक्षाका विचार होने लगता है—यही लोभका उदय है। ये तीनों ही सबके पतनके कारण हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको आत्मविचाररूपयोगके द्वारा इन्हें त्याग देना चाहिये।

दानं ब्रह्मार्पणं यत्क्रियत इह नृभिः स्यात्क्षमाऽक्रोधसंज्ञा,
श्रद्धास्तिक्यं च सत्यं सदिति परमतः सेतुसंज्ञं चतुष्कम्।
तत्स्याद्बन्धाय जन्तोरिति चतुर इमान्दानपूर्वैश्चतुर्भि-
स्तीर्त्वा श्रेयोऽमृतं च श्रयत इह नरः स्वर्गतिं ज्योतिराप्तिम् ॥१३॥

इस लोकमें मनुष्यद्वारा जो कुछ ब्रह्मार्पण बुद्धिसे दिया जाता है वह 'दान' है, क्रोध न होना ही 'क्षमा' है, आस्तिक्य (शास्त्र एवं

ईश्वरमें विश्वास होना) ही 'श्रद्धा' कहलाता है, तथा सत्स्वरूप ब्रह्म ही 'सत्य' है। इनके विपरीत जो अदान, अक्षमा, अश्रद्धा, और असत्य हैं उन चारोंका नाम ही 'सेतु' है। वह सेतु ही जीवके बन्धनका कारण है; अतः इन चारोंका दान आदि चार साधनोंसे पारकर मनुष्य कल्याण-रूप अमृतको प्राप्त कर लेता है; और इन्हींसे उसे स्वर्गलोक तथा ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मकी भी प्राप्ति होती है।

अन्नं देवातिथिभ्योऽर्पितममृतमिदं चान्यथा मोघमन्नं,
यश्चात्मार्थं विधत्ते तदिह निगदितं मृत्युरूपं हि तस्य।
लोकेऽसौ केवलाघो भवति तनुभृतां केवलादी च यःस्यात्,
त्यक्त्वा प्राणाग्निहोत्रं विधिवदनुदिनं योऽश्नुते सोऽपि मर्त्यः॥१४॥

जो अन्न [बलिवैश्वदेवद्वारा] देवताओंको और आये हुए अतिथियोंको अर्पित कर दिया जाता है वह अमृतरूप होता है। उसके विना वह निष्फल होता है। जिस अन्नको पुरुष केवल अपने ही शरीरके पोषणके लिये पकाता है, वह तो उसकी मृत्युरूप ही कहा गया है। देहधारियोंमें जो पुरुष [विना किसीको दिये] अकेला ही भोजन करता है, वह तो मानो केवल पापरूप ही है, और जो नित्यप्रति विधिपूर्वक प्राणाग्निहोत्र किये विना भोजन करता है, वह भी मृतकवत निष्फल-निःसार-जीवनवाला ही मनुष्य है।

स्वाज्ञानज्ञानहेतू जगदुदयलयौ सर्वसाधारणौ स्तो,
जीवेश्वास्वर्णगर्भं श्रुतय इति जगुर्हूयते स्वप्रबोधे।

विश्वं ब्रह्मण्यबोधे जगति पुनरिदं हूयते ब्रह्म यद्व-
च्छुक्तौ रौप्यं च रौप्येऽधिकरणमथवा हूयतेऽन्योन्यमोहात् ॥१५॥

हिरण्यगर्भसे लेकर सभी जीवोंमें यह बात एक-सी ही देखी जाती है कि-आत्मस्वरूपके अज्ञानसे जगत् का उदय होता है, और उसका ज्ञान होनेपर लय हो जाता है। यही बात श्रुतियोंने भी कही है। जिस प्रकार अन्योन्याध्याससे [अर्थात् परस्पर एक-दूसरेके गुणोंमें भ्रम हो जानेसे] चाँदीमें उसकी अधिष्ठानरूप सीपी लुप्त हो जाती है और [यथार्थ ज्ञान होनेपर भ्रमजनित] चाँदी सीपीमें समा जाती है उसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर यह जगत् ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है तथा अज्ञानावस्थामें ब्रह्म ही जगत् में समाया रहता है।

नोऽकस्मादार्द्रमेधः स्पृशति च दहनः किं तु शुष्कं निदाघा-
दार्द्रं चेतोऽनुबन्धैः कृतसुकृतमपि स्वोक्तकर्मप्रजार्थैः।
तद्वज्ज्ञानाग्निरेतत्स्पृशति न सहसा किं तु वैराग्यशुष्कं,
तस्माच्छुद्धो विरागः प्रथममभिहितस्तेन विज्ञानसिद्धिः ॥१६॥

जिस प्रकार गीले ईंधनको अग्नि एकाएक नहीं जलाता, बल्कि धूपमें सुखाये हुए काष्ठको ही जलाता है, इसी प्रकार जो चित्त अपने वर्णाश्रमधर्मकर्मके पालन एवं पुत्र और धन आदिकी वासनाओंसे ग्रस्त है, उसका ज्ञानाग्नि एकाएक स्पर्श नहीं करता; वह तो वैराग्यके प्रभावसे शुष्क (वासनाहीन) हुए चित्तको ही जल्दी पकड़ता है। अत एव ज्ञानके साधनोंमें सबसे पहले शुद्ध वैराग्य ही श्रेष्ठ-साधन बतलाया गया है, उसीसे ज्ञानकी सिद्धि हो सकती है।

सर्वानुन्मूल्य कामान्हृदि कृतनिलयान्क्षिप्तशङ्कूनिवोच्चै-
र्दीर्यद्देहाभिमानस्त्यजति चपलतामात्मदत्तावधानः ।
यात्यूर्ध्वस्थानमुच्चैः कृतसुकृतभरो नाडिकाभिर्विचित्रं,
नीलश्वेतारुणाभिः स्रवदमृतभरं गृह्यमाणात्मसौख्यः ॥१७॥

जब मुमुक्षु आत्मानुसन्धान करने लगता है तो वह अपने हृदयमें बसी हुई कष्टप्रद सम्पूर्ण-कामनाओंको 'पृथिवीमें गहरे गड़े हुए खूँटोंके समान' उखाड़ डालता है। फिर देहाभिमानके विदीर्ण हो जानेपर वह सब प्रकारकी चञ्चलता छोड़ देता है। इस प्रकार वह महात्मा, जिसने कि–अनेकों पुण्य किये हैं, आत्मानन्दका आस्वादन करता हुआ नील, श्वेत और अरुणवर्णकी नाडियोंसे मिलकर बने हुए (सुषुम्ना) मार्गद्वारा चूते हुए अमृतरससे पूर्ण अति विचित्र ऊर्ध्वस्थान (सहस्र-दलकमल या ब्रह्मरन्ध्र) को प्राप्त हो जाता है।

क्षीरान्तर्यद्वदाज्यं मधुरिमविदितं तत्पृथग्भूतमस्माद्,
भूतेषु ब्रह्म तद्वद्व्यवहृतिविदितं श्रान्तविश्रान्तिबीजम् ।
यं लब्ध्वा लाभमन्यं तृणमिव मनुते यत्र नोदेति भीतिः,
सान्द्रानन्दं यदन्तःस्फुरति तदमृतं विद्ध्यतो ह्यन्यदार्तम् ॥१८॥

जिस प्रकार दूधके अन्दर मधुरतासे पहचाना हुआ घृत वस्तुतः उससे अलग ही होता है, उसीप्रकार जगत् के व्यवहारसे [उसके प्रकाशकरूपसे]जाना गया, श्रान्त(थकित)पुरुषोंके विश्रामका मूलकारण ब्रह्म भी वास्तवमें भूतोंसे पृथक् ही है। जिस परमलाभको पाकर मनुष्य

अन्य सब प्रकारके सुखोंको तिनकेके समान तुच्छ समझने लगता है, तथा जहाँ उसे किसी प्रकारका भय नहीं रहता, उस घनानन्दरूप परमात्माको ही, जो कि सदा अन्तःकरणमें ही स्फुरित होता है, अमृतरूप समझो; उससे भिन्न और सब नाशवान् है।

ओतः प्रोतश्च तन्तुष्विह विततपटश्चित्रवर्णेषु चित्र-
स्तस्मिञ्जिज्ञास्यमाने ननु भवति पटः सूत्रमात्रावशेषः।
तद्वद्विश्वं विचित्रं नगनगरनरग्रामपश्वादिरूपं,
प्रोतं वैराजरूपे स वियति तदपि ब्रह्मणि प्रोतमोतम्, ॥१९॥

एक लंबा-चौड़ा रंग-विरंगा कपड़ेका थान कई रंगके धागोंमें ही ओतप्रोत रहता है; यदि उसके वास्तविक स्वरूपकी खोज की जाय तो वह वस्त्र तन्तुरूप ही बच रहता है। उसी प्रकार पर्वत, नगर, मनुष्य, ग्राम और पशु आदि रूप यह विचित्र जगत् भी विराट्रूपमें ही ओतप्रोत है, और वह विराट् आकाशमें (अव्यक्त-प्रकृतिमें) तथा आकाश ब्रह्ममें ओतप्रोत है [इस प्रकार परमार्थतः यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है।]

रूपं रूपं प्रतीदं प्रतिफलनवशात्प्रातिरूप्यं प्रपेदे,
ह्येको द्रष्टा द्वितीयो भवति च सलिले सर्वतोऽनन्तरूपः।
इन्द्रो मायाभिरास्ते श्रुतिरिति वदति व्यापकं ब्रह्म तस्मा-
ज्जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरे बिम्बितं बुद्ध्युपाधौ ॥२०॥

यह ब्रह्मतत्त्व, भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण ही भिन्न-भिन्न रूप हो गया है; जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्ब पड़ने-

पर एक द्रष्टा ही दूसरा रूप धारण कर लेता है। श्रुति कहती है कि 'इन्द्र नामक परमात्मा ही मायासे सब ओर अगणित रूपवाला हो गया है।' इससे सिद्ध होता है कि-बुद्धिरूप अत्यन्त स्वच्छ उपाधिमें अकस्मात् प्रतिबिम्बित हुआ व्यापक ब्रह्म ही जीवभावको प्राप्त हो गया है।

भूतेष्वात्मानमात्मन्यनुगतमखिलं भूतजातं प्रपश्ये-
त्प्रायः पाथस्तरङ्गान्वयवदथ चिरं सर्वमात्मैव पश्येत्।
एकं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतिशिरसि मतं नेह नानास्ति किञ्चि-
न्मृत्योराप्नोति मृत्युं स इह जगदिदं यस्तु नानेव पश्येत् ॥२१॥

विवेकी पुरुषको चाहिये कि-सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माको और सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्मामें देखे। फिर जल और तरङ्गके अभेदके समान चिरकालतक सम्पूर्ण जगत्को आत्मारूप ही देखता रहे। उपनिषद्का यही मत है कि-'एक अद्वितीय ब्रह्म ही है' जगत्में नाना पदार्थ कुछ नहीं हैं; जो पुरुष इस जगत्को नानारूप देखता है, वह मृत्युके पश्चात् मृत्युको प्राप्त होता रहता है अर्थात् अद्वैततत्त्वको नहीं जाननेवाला द्वैत-दर्शी भेदवादी कल्पकोटि शतमें भी जन्ममरणके संकटसे छूट नहीं सकता है।

यत्रानन्दाश्च मोदाः प्रमुद इति मुदश्चासते सर्व एते,
यत्राप्ताः सर्वकामाः स्युरखिलविरमात्केवलीभाव आस्ते।
मां तत्रानन्दसान्द्रे कृधि चिरममृतं सोम! पीयूषपूर्णां,
धारामिन्द्राय देहीत्यपि निगमगिरो भ्रूयुगान्तर्गताय ॥२२॥

'जिसमें ये सभी आनन्द, सभी मोद, सभी प्रमोद और सभी मुद स्थित हैं, जिसमें स्थित होनेपर सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं, और सम्पूर्ण प्रपञ्चका निराकरण हो जानेसे केवलीभावकी प्राप्ति हो जाती है, हे सोम! (उमया ब्रह्मविद्यया सह वर्तमान-महादेव!) उस आनन्दघनमें आप मुझ (जीव) को चिरकालतक स्थिर रखिये, और इस प्रकार भ्रूयुगलके बीचमें स्थित हो जानेपर मुझपर अमृत-पूर्ण-जलकी वर्षा कीजिये'—ऐसा भी वेदने कहा है।

योयो दृग्गोचरोऽर्थो भवति स स तदा तद्गतात्मस्वरूपा-
विज्ञानोत्पद्यमानः स्फुरति ननु यथा शुक्तिकाज्ञानहेतुः।
रौप्याभासो मृषैव स्फुरति च किरणाज्ञानतोऽम्भो भुजङ्गो,
रज्ज्वज्ञानान्निमेषं सुखभयकृदतो दृष्टिसृष्टं किलेदम्॥ २३॥

जिस प्रकार शुक्तिके अज्ञानसे रजतकी, सूर्यकी किरणोंके अज्ञानसे जलकी, तथा रज्जुके अज्ञानसे सर्पकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार संसारमें जो-जो पदार्थ देखे जाते हैं, वे उसमें स्थित आत्म-स्वरूपके अज्ञानसे ही उत्पन्न होकर प्रतीत होने लगते हैं। और उन शुक्ति, रजत, मृगजल तथा रज्जुसर्पके समान ही सुख अथवा भयके कारण हो जाते हैं। अतः यह सम्पूर्ण संसार भी दृष्टिसृष्ट ही है, अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तिरूप दृष्टिसे कल्पित ही है।

यः प्रत्यात्मानभिज्ञः श्रुतिविदपि तथा कर्मकृत्कर्मणोऽस्य,
नाशः स्यादल्पभोगात्पुनरवतरणे दुःखभोगो महीयान्।

आत्माभिज्ञस्य लिप्सोरपि भवति महान्शाश्वतः सिद्धिभोगो,
ह्यात्मा तस्मादुपास्यः खलु तदधिगमे सर्वसौख्यान्यलिप्सोः ॥२४॥

जो वेदवेत्ता और वैदिक कर्मोंको करनेवाला होकर भी आत्मतत्त्वको विना जाने ही कालके गालमें चला जाता है, उसके कर्मका थोड़ा-सा भोग मिलनेके अनन्तर क्षय हो जाता है, और उसे फिर इसी लोकमें लौटनेमें बड़ा कष्ट मालूम होता है। यदि आत्मज्ञको किसी प्रकारके भोगकी इच्छा हो तो भी उसे अणिमादि सिद्धिरूप महान् और नित्यभोगकी प्राप्ति होती है, और किसी प्रकारकी कामना न होनेपर तो आत्मज्ञान होते ही सब प्रकारके अखण्ड-सुख प्राप्त हो जाते हैं। अतः अवश्य आत्माकी ही सदा उपासना करनी चाहिये।

यं भान्तं चिद्घनैकं क्षितिजलपवनादित्यचन्द्रादयो ये,
भासा तस्यैव चानु प्रविरलगतयो भान्ति तस्मिन्वसन्ति ।
विद्युत्पुञ्जोऽग्निसङ्घोऽप्युडुगणविततिर्भासयेत्किं परेशं,
ज्योतिः शान्तं ह्यनन्तं कविमजममरं शाश्वतं जन्मशून्यम् ॥२५॥

जिस एक चिद्घनके प्रकाशित होनेपर उसीके तेजसे ये भिन्न-भिन्न गतिवाले पृथिवी, जल, वायु, सूर्य, और चन्द्रमा आदि प्रकाशित होते हैं, और उसीमें बसते भी हैं उस जगद्विधाता, ज्योतिस्वरूप, शान्त, अनन्त, कवि, अजन्मा, अमर, नित्य और जन्मरहित परमात्माको क्या विद्युत्पुञ्ज, अग्निसमूह अथवा नक्षत्रगण प्रकाशित कर सकते हैं ?। अर्थात् उस स्वयंप्रकाश स्वतःसिद्ध-चेतनको स्वतःजड़ ये अग्न्यादि ज्योतियाँ प्रकाशित नहीं कर सकते हैं।

तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चेद्वै,
पुंसः श्रीसद्गुरूणामतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या ।
जीवन्मुक्तः स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेऽनाद्युपाधौ,
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसन्देहवृत्तिः ॥२६॥

जिस किसी पुरुषको श्रीसद्‌गुरुकी अतुलित करुणापूर्ण अमृतमयी दृष्टिसे ऐसा अनुभव उदित हो जाता है कि 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' वही जीवन्मुक्त है। इसप्रकार अज्ञानरूप अनादि उपाधिके निकल जानेसे जिसके मनका भ्रम दूर हो गया है और सन्देहवृत्ति नष्ट हो गयी है, वह उस नित्यानन्दैकधाम परमात्मामें सदाके लिए प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात् वह पुनः अज्ञान-प्रसूत जन्म-मरणके कष्टप्रचुर चक्रमें नहीं आता है, उससे मुक्त हो जाता है।

नो देहो नेन्द्रियाणि क्षरमतिचपलं नो मनो नैव बुद्धिः,
प्राणो नैवाहमस्मीत्यखिलजडमिदं वस्तुजातं कथं स्याम् ।
नाहङ्कारो न दारा गृहसुतसुजनक्षेत्रवित्तादिदूरं,
साक्षी चित्प्रत्यगात्मा निखिलजगदधिष्ठानभूतः शिवोऽहम् ॥२७॥

[जीवन्मुक्त समझता है कि] मैं देह या इन्द्रियाँ नहीं हूँ; मैं नाशवान् और अति चपल मन, बुद्धि या प्राण भी नहीं हूँ, क्योंकि ये सब वस्तुएँ तो जड़ हैं—ये मैं चेतन आत्मा कैसे हो सकता हूँ? मैं अहंकार या स्त्री भी नहीं हूँ और गृह, पुत्र, सम्बन्धी, क्षेत्र तथा वित्त आदिसे भी अतीत हूँ। मैं तो सबका साक्षी, चेतन, प्रत्यगात्मा, सम्पूर्ण जगत्‌का अधिष्ठान साक्षात् शिव (कल्याणस्वरूप) ही हूँ।

प्रायोऽकामोऽस्तकामो निरतिशयसुखायात्मकामस्तदासौ,
तत्प्राप्तावाप्तकामः स्थितचरमदशस्तस्य देहावसाने ।
प्राणा नैवोत्क्रमन्ति क्रमविरतिमिताः स्वस्वहेतौ तदानीं,
क्वायं जीवो विलीनो लवणमिव जलेऽखण्ड आत्मैव पश्चात् ॥२८॥

[पहले तो] कामनाओंका अस्त होनेके कारण वह प्रायः काम-शून्य होता है, फिर आत्यन्तिक सुखकी इच्छासे केवल आत्माकी ही कामना करता है और उस समय उसकी प्राप्ति हो जानेपर वह पूर्णकाम जीवन्मुक्त महात्मा चरमावस्थामें स्थित होता है। उसका शरीरपात होनेपर उसके प्राण (इन्द्रियवर्ग-आदि) अन्य शरीरोंमें नहीं जाते। वे क्रमशः अपने-अपने कारणोंमें लीन हो जाते हैं। उस समय यह जीव भी कहाँ रहता है? फिर तो यह भी जलमें विलीन हुए लवणके समान अखण्ड-आत्मा ही है।

प्रापश्यद्विश्वमात्मेत्ययमिह पुरुषः शोकमोहाद्यतीतः,
शुद्धं ब्रह्माध्यगच्छत्स खलु सकलवित्सर्वसिद्ध्यास्पदं हि ।
विस्मृत्य स्थूलसूक्ष्मप्रभृतिवपुरसौ सर्वसङ्कल्पशून्यो,
जीवन्मुक्तस्तुरीयं पदमधिगतवान्पुण्यपापैर्विहीनः ॥२९॥

इस प्रकार जो सम्पूर्ण विश्वको आत्मारूप देखने लगता है वह पुरुष सब प्रकारके शोक और मोह आदिसे पार हो जाता है। उसे शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान हुआ है, इसलिये वह सर्वज्ञ और सब प्रकारकी सिद्धियोंका आश्रयस्थान हो गया है। वह जीवन्मुक्त महात्मा इन

स्थूलसूक्ष्मादि शरीरोंको भूलकर सब प्रकारके संकल्पोंसे रहित हो तुरीय पदमें स्थित रहता है । अतः उसे पाप-पुण्यका लेप नहीं होता ।

किं ज्योतिस्ते वदस्वाहनि रविरिह मे चन्द्रदीपादि रात्रौ,
स्यादेवं भानुदीपादिकपरिकलने किं तव ज्योतिरस्ति ।
चक्षुस्तन्मीलने किं भवति च सुतरां धीर्धियः किं प्रकाशे,
तत्रैवाहं ततस्त्वं तदसि परमकं ज्योतिरस्मि प्रभोऽहम् ॥३०॥

(गुरुने पूछा—) 'बताओ तो तुम्हें दिनके समय पदार्थोंको दिखानेवाली कौन-सी ज्योति है ?' (इसपर शिष्य बोला—) 'हमें दिनमें सूर्य और रात्रिके समय चन्द्रमा तथा दीपक, प्रकाश प्रदान करते हैं ।' (गुरु—) 'अच्छा, इन सूर्य और चन्द्रमाको देखनेमें तुम किस ज्योतिसे काम लेते हो ?' (शिष्य—) 'नेत्रसे ।' (गुरु—) 'और उनके मुँद जानेपर ?' (शिष्य—) 'बुद्धिसे ।' (गुरु—) और बुद्धिको प्रकाशित करनेका तुम्हारे पास क्या साधन है ?' (शिष्य—) 'उसका प्रकाशक तो मैं ही हूँ' (गुरु—) 'ठीक है, इससे तुम ही सम्पूर्ण ज्योतियोंमें उत्कृष्ट परम ज्योति हो ।' [शिष्य—] 'हाँ भगवन् ! मैं ही हूँ' ।

कश्चित्कालं स्थितः कौ पुनरिह भजते नैव देहादिसङ्घं,
यावत्प्रारब्धभोगं कथमपि स सुखं चेष्टतेऽसङ्गबुद्ध्या ।
निर्द्वन्द्वो नित्यशुद्धो विगलितममताहङ्कृतिर्नित्यतृप्तो,
ब्रह्मानन्दस्वरूपः स्थिरमतिरचलो निर्गताशेषमोहः ॥३१॥

जो पुरुष इस प्रकार जीवन्मुक्त हो गया है-वह कुछ काल इस लोकमें स्थित रहनेपर भी इस देहादि संघातमें आत्मबुद्धि नहीं करता। वह अपना प्रारब्धभोग समाप्त होनेतक किसी प्रकार आनन्दपूर्वक असंगबुद्धिसे व्यवहार करता रहता है । ममता और अहंकारके लीन हो जानेसे वह निर्द्वन्द्व नित्यशुद्ध और नित्यतृप्त हो जाता है तथा सब प्रकारका मोह नष्ट हो जानेके कारण ब्रह्मानन्दस्वरूप, स्थिरबुद्धि और अपने निश्चयमें अटल रहता है ।

जीवात्मब्रह्मभेदं दलयति सहसा यत्प्रकाशैकरूपं,
विज्ञानं तच्च बुद्धौ समुदितमतुलं यस्य पुंसः पवित्रम् ।
माया तेनैव तस्य क्षयमुपगमिता संसृतेः कारणं या,
नष्टा सा कार्यकर्त्री पुनरपि भविता नैव विज्ञानमात्रात् ॥३२॥

जो जीवात्मा और परमात्माके भेदको सहसा कुचल डालता है वह एकमात्र प्रकाशस्वरूप, अतुलित एवं परम पवित्र विज्ञान जिस पुरुषके शुद्ध अन्तःकरणमें प्रकट होता है, उसकी जन्म-मरणरूप संसारकी कारणरूपा सम्पूर्ण माया उसीके द्वारा नष्ट कर दी जाती है और आभास-मात्र होनेके कारण वह नष्ट हुई माया फिर कभी कार्यकारिणी नहीं हो सकती है ।

विश्वं नेति प्रमाणाद्विगलितजगदाकारभानस्त्यजेद्वै,
पीत्वा यद्वत्फलाम्भस्त्यजति च सुतरां तत्फलं सौरभाढ्यम् ।
सम्यक्सच्चिद्घनैकामृतसुखकवलास्वादपूर्णो हृदासौ,
ज्ञात्वा निःसारमेवं जगदखिलमिदं स्वप्रभः शान्तचित्तः ॥३३॥

'यह नानारूप द्वैत-प्रपञ्च है ही नहीं' इस तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणोंसे इस जगदाभासके विलीन हो जानेपर ज्ञानी जन इसकी आस्था छोड़ देते हैं, जैसे नारियल आदि सुगन्धित फलका जल पीकर उसे फेंक दिया जाता है। फिर इस सच्चिद्घनानन्दरूप अमृतके घूँटोंका भलीप्रकार आस्वादन कर वे पूर्णहृदय हो जाते हैं और इस सम्पूर्ण जगत्‌को सारहीन समझकर स्वयंप्रकाश और शान्तचित्तसे स्थित रहते हैं।

आदौ मध्ये तथान्ते जनिमृतिफलदं कर्ममूलं विशालं,
ज्ञात्वा संसारवृक्षं भ्रममदमुदिताशोकतानेकपत्रम्।
कामक्रोधादिशाखं सुतपशुवनिताकन्यकापक्षिसंघं,
छित्त्वासङ्गासिनैनं पटुमतिरभितश्चिन्तयेद्वासुदेवम् ॥३४॥

कर्म ही जिसकी जड़ है तथा भ्रम, मद, मुदिता (प्रसन्नता) और शोकरूप अनेकों पत्ते एवं काम-क्रोधादि शाखाएँ हैं और जिसपर पुत्र, पशु, पत्नी एवं कन्या आदि बहुत-से पत्ती रहते हैं, उस संसाररूप विशाल वृक्षको आदि, मध्य और अन्तमें केवल जन्ममरणरूप कष्टमय फल देनेवाला ही जानकर कुशलमति पुरुषोंको इसे असंगतारूप खड्गसे काटकर निरन्तर श्रीवासुदेवका चिन्तन करना चाहिये।

जातं मय्येव सर्वं पुनरपि मयि तत्संस्थितं चैव विश्वं,
सर्वं मय्येव याति प्रविलयमिति तद्ब्रह्म चैवाहमस्मि।
यस्य स्मृत्या च यज्ञाद्यखिलशुभविधौ सुप्रयातीह कार्यं,
न्यूनं सम्पूर्णतां वै तमहमतिमुदैवाच्युतं सन्नतोऽस्मि ॥३५॥

अहो ! यह सम्पूर्ण जगत् मुझहीमें तो उत्पन्न हुआ है, तथा यह मुझहीमें स्थित है और मुझहीमें लीन भी हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लयका आधारभूत वह ब्रह्म मैं ही तो हूँ। जिसके केवल स्मरणमात्रसे यज्ञादि सम्पूर्ण शुभ कार्योंकी कमी पूर्ण हो जाती है उस अपने अच्युतस्वरूपको मैं अति आनन्दपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

॥ इति श्रीवेदान्तसुधा-समाप्ता ॥

सदाचारानुसन्धानम्

सच्चिदानन्दरूपाय, जगदङ्कुरहेतवे।
सदोदिताय पूर्णाय, नमोऽनन्ताय विष्णवे ॥ १ ॥

सच्चिदानन्द स्वरूप, जगद्रूप-अङ्कुर का कारण, सदा प्रकाशमान, पूर्ण, अनन्त विष्णु-परमात्मा को नमस्कार है।

सर्ववेदान्तसिद्धान्तै, ग्रंथितं निर्मलं शिवम्।
सदाचारं प्रवक्ष्यामि, योगिनां ज्ञानसिद्धये ॥ २ ॥

सभी उपनिषदोंके सिद्धान्तोंसे ग्रथित, पवित्र, कल्याणमय सदाचार को योगियों के ज्ञानकी सिद्धि के लिये मैं कहूँगा।

प्रातः स्मरामि देवस्य, सवितु भर्ग आत्मनः।
वरेण्यं तद्धियो यो नः, चिदानन्दः प्रचोदयात् ॥ ३ ॥

प्रातःकालमें समस्त विश्वकी उत्पत्ति के कारण, स्वयं ज्योतिस्वरूप, आत्मदेव के अविद्यारूप जगद्बीज का भर्जन करनेवाला श्रेष्ठ

चिदानन्दस्वरूप का मैं सदा स्मरण करता हूँ, जो चिदानन्द स्वरूप हमारी-बुद्धि-वृत्तियोंमें सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
यदेकं केवलं ज्ञानं, तदेवाहं परं बृहत् ॥ ४ ॥

जाग्रत्, स्वप्न, एवं सुषुप्तिमें अन्वय-व्यतिरेक-(तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं अन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः, अर्थात् आत्म-सत्ता होनेपर जाग्रत् आदिकी सत्ता, आत्म-सत्ता न होनेपर जाग्रत् आदिकी सत्ता का अभाव) द्वारा जो केवल-द्वैतप्रपञ्चविनिर्मुक्त; एक-अद्वितीय, निरतिशय-व्यापक परमसूक्ष्म चैतन्यतत्त्व सिद्ध होता है, वही मैं हूँ।

अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्तनिर्मलः।
असंगोऽहमिति ज्ञात्वा, शौचमेतत्प्रचक्षते ॥ ५ ॥

यह देह अत्यन्त मलिन-मल-मूत्रादि अपवित्र पदार्थोंका थैला है, देह-द्रष्टा आत्मा अत्यन्त-निर्मल-विशुद्ध है, अत एव मैं देहसे पृथक्-असङ्ग-निर्विकार हूँ, यह दृढ़ निश्चय करना ही 'शौच' कहा जाता है।

मन्मनो मीनवन्नित्यं, क्रीडत्यानन्दवारिधौ।
सुस्नातस्तेन पूतात्मा, सम्यग्विज्ञानवारिणा ॥ ६ ॥

मेरा मनरूप मत्स्य सदा आनन्द सागर-पूर्णात्मा में क्रीड़ा कर रहा है, अत-एव मैं यथार्थ-विज्ञान-(अपरोक्षानुभव) रूप जलसे अच्छी प्रकार स्नान कर पवित्र-स्वरूप हो गया हूँ।

अथाघमर्षणं कुर्यात्, प्राणापाननिरोधतः ।
मनः पूर्णे समाधाय, मग्नकुम्भो यथाऽर्णवे ॥ ७ ॥

अब योगी प्राण एवं अपान के निरोध द्वारा 'समुद्रमें निमग्न कुम्भ के समान' पूर्ण-तत्त्वमें मन का समाधान (तन्मयता) रूप अघमर्षण करे ।

सर्वत्र प्राणिनां देहे, जपो भवति सर्वदा ।
हंसः सोऽहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

सभी प्राणियों के शरीरोंमें सदा 'हंसः सोऽहम्' (वह हंस-परमात्मा मैं हूँ) इस प्रकारका जप होता रहता है, इस जपका यथार्थ-अनुभव प्राप्तकर योगी सकल-राग-द्वेषादि बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

तर्पणं स्वसुखेनैव, स्वेन्द्रियाणां प्रतर्पणम् ।
मनसा मन आलोच्य, स्वयमात्मा प्रकाशते ॥ ९ ॥

स्वस्वरूप विशुद्ध-आत्मानन्दके द्वारा ही अपनी-इन्द्रियोंको तृप्त करना, योगियोंका तर्पण है । मनसे ही मनकी आलोचना करनेसे स्वयं विशुद्ध-आत्मा प्रकाशित होता है ।

आत्मनि स्वप्रकाशेऽग्नौ, चित्तमेकाहुतिं क्षिपेत् ।
अग्निहोत्री स विज्ञेयः, इतरे नामधारकाः ॥१०॥

जो स्वयं-प्रकाश आत्म-रूप अग्निमें चित्त-रूप एक-आहूतिका होम करता है, वही यथार्थ अग्निहोत्री है, दूसरे (इस प्रकारका

अग्नि होत्र न कर केवल लौकिक-अग्निमें घृतादि आहुतिके प्रदान करनेवाले) तो केवल नामधारी हैं।

देहो देवालयः प्रोक्तो, देही देवो निरञ्जनः।
अर्चितः सर्वभावेन, स्वानुभूत्या विराजते ॥११॥

इस देहको ही देवालय कहा है, इसमें देह-द्रष्टा निरञ्जन आत्मा ही देव है, वह सर्वभावसे पूजित-हुआ स्वानुभवद्वारा सदा विराजमान है।

अतीतानागतं किञ्चिन्न स्मरामि न चिन्तये।
रागद्वेषं विना प्राप्तं, भुञ्जाम्यत्र शुभाशुभम् ॥१२॥

अतीत (भूतकाल की बात) का मैं कुछ भी स्मरण नहीं करता हूँ, अनागत (भविष्यत् की बात) का मैं कुछ भी चिन्तन नहीं करता हूँ, वर्तमानमें प्रारब्धके अनुसार सुखदुःखादि-जो शुभाशुभ (अनुकूल-प्रतिकूल) द्वन्द्व प्राप्त होता है, उसको मैं राग-द्वेषके विना प्रसन्नतासे भोगता हूँ।

वेदान्तश्रवणं कुर्यात्, मननं चोपपत्तिभिः।
योगेनाभ्यसनं नित्यं, ततो दर्शनमात्मनः ॥ १३॥

योगी सदा वेदान्त (उपनिषत्) का श्रवण करे, युक्तियोंके द्वारा वेदान्ततत्त्वका मनन करे, निदिध्यासनरूपयोगसे सदा आत्म-चिन्तनका दृढ़ाभ्यास करे, इस प्रकार करनेसे आत्माका साक्षात्कार हो जाता है।

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ।
प्रसुप्तपुरुषो यद्वच्छब्देनैवानुबुध्यते ॥१४॥

शब्द-शक्ति अचिन्त्य होनेसे जैसे सोया हुआ मनुष्य शब्दसे ही (शक्ति एवं लक्षणावृत्तिके विना ही) जाग्रत् हो जाता है, इस प्रकार श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-सद्गुरुके वेदान्त-महावाक्यरूप शब्द-उपदेशसे ही शुद्धान्तःकरण-अधिकारीको स्वस्वरूपका अपरोक्ष-साक्षात्कार होजाताहै

न त्वं देहो नेन्द्रियाणि, न प्राणो न मनो न धीः ।
विकारित्वाद्विनाशित्वात्, दृश्यत्वाच्च घटो यथा ॥१५॥
विशुद्धं केवलं ज्ञानं, निर्विशेषं निरञ्जनम् ।
यदेकं परमानन्दं, तत्त्वमस्यद्वयं परम् ॥१६॥

जैसे घटके विकारी, विनाशी एवं दृश्य होनेसे तूँ घटरूप नहीं होसकता, इस प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धिरूप भी तू नहीं होसकता है। जो अत्यन्तशुद्ध-निर्विशेष (जाति-गुण-क्रिया-सम्बन्धादिरूप विशेष-शून्य) निरञ्जन, (अविद्या-रहित) एक, ज्ञान, (चैतन्य) परमानन्द; अद्वैत-परतत्त्व है वही तूँ है।

चिन्मात्रैकरसे विष्णौ, ब्रह्मात्म्यैक्यस्वरूपके ।
भ्रमेणैव जगज्जातं; रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥१७॥

जैसे भ्रान्तिसे रज्जुमें सर्प उत्पन्न होता है, तैसे चिन्मात्र; एक-रस, ब्रह्म एवं आत्माका अभिन्नस्वरूप-व्यापक-विष्णु तत्त्वमें अवि-द्यारूपी भ्रान्तिसे ही यह विचित्र-नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है।

कर्मशास्त्रे कुतो ज्ञानं, तर्के नैवास्ति निश्चयः।
सांख्ययोगौ भिदापन्नौ, शाब्दिकाः शब्दतत्पराः ॥१८॥
अन्ये पाखण्डिनः सर्वे, ज्ञानवार्तासु दुर्बलाः।
एकं वेदान्त-विज्ञानं, स्वानुभूत्या विराजते ॥१९॥

कर्मशास्त्र-(जैमिनी-प्रणीत-पूर्वमीमांसा आदि शास्त्र) में ज्ञान कहाँ ? तर्कशास्त्र-(कणाद-गौतमप्रणीत न्याय-वैशेषिकादि शास्त्र) में निश्चय नहीं है। सांख्य योग (कपिल-प्रणीत सांख्य, पतञ्जलि प्रणीत-योग)-शास्त्र भेदवादी हैं, शाब्दिक-(वैयाकरण) केवल शब्द-साधना में ही तत्पर हैं, दूसरे मतवादी लोग सभी पाखण्डी हैं, अत एव वे यथार्थ ज्ञानकी वार्तामें दुर्बल (प्रमादी) हैं, एकमात्र अद्वैत-वेदान्त-विज्ञान ही स्वानुभव-द्वारा विराजमान (विशेष-सुशोभित-प्रामाणिक)है।

तार्किकाणां च जीवेशौ, वाच्यावेतौ विदुर्बुधाः।
लक्ष्यौ च सांख्ययोगाभ्यां वेदान्तैरैकता तयोः ॥२०॥

तार्किकोंके मतमें जीव और ईश्वर त्वं एवं तत्पदके वाच्य हैं, सांख्य एवं योग द्वारा उपाधि-रहित-शुद्ध-जीव-ईश्वर लक्ष्य हैं और उपनिषत्-वेदान्त द्वारा शुद्ध-जीव-ईश्वरकी एकता है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

स्थूलवैराजयोरैक्यं, सूक्ष्महैरण्यगर्भयोः।
अज्ञानमाययोरैक्यं, प्रत्यग्विज्ञानपूर्णयोः ॥२१॥

व्यष्टि-स्थूल शरीर एवं समष्टि-स्थूल शरीर-विराट्की एकता है, व्यष्टि-सूक्ष्म-शरीर एवं समष्टि-सूक्ष्म-शरीर-हिरण्यगर्भ की एकता है,

व्यष्टि-कारण शरीर-अज्ञान एवं समस्त संसारका बीज-मायाकी एकता है, तथा प्रत्यगात्मा तथा पूर्ण-विज्ञानघन ब्रह्मकी एकता है।

कार्यकारणवाच्यांशौ, जीवेशौ यौ जहच्च तौ।
अजहच्च तयो र्लक्ष्यौ, चिदंशावेकरूपिणौ ॥२२॥

जीव और ईश्वरमें कार्य एवं कारणरूप जो वाच्यांश-उपाधि है, उसका परित्याग करनेसे, तथा शुद्ध-चैतन्यरूप लक्ष्य-भागका परित्याग नहीं करनेसे जीव-ईश्वरका उपाधि-रहित शुद्ध-चैतन्यरूप एक ही है।

अहं ममेत्ययं बन्धो, ममाहं नेति मुक्तता।
बन्धमोक्षौ गुणै र्भातः, गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ॥२३॥

'मैं' और 'मेरा' यही बन्ध है, शरीरादिरूपसे न मैं हूँ, तथा स्त्री, पुत्र, धनादि न मेरा है, यह निश्चय ही मुक्ति है। बन्ध एवं मोक्ष सत्त्वादि गुणोंसे प्रतीत होता है, और गुण प्रकृतिसे समुत्पन्न हैं।

ज्ञानमेकं सदा भाति, सर्वावस्थासु निर्मलम्।
मन्दभाग्या न जानन्ति, स्वरूपं केवलं बृहत् ॥२४॥

जाग्रदादि-सभी अवस्थाओंमें निर्मल-एक-अद्वैत-ज्ञान ही सदा भास रहा है, परन्तु उस निरवधिक-सर्व व्यापक, केवल-शुद्ध-विज्ञान-घन स्वरूपको मन्द-भाग्यवाले मनुष्य नहीं जान सकते हैं।

संकल्पसाक्षिणं ज्ञानं, सर्वलोकैकजीवनम्।
तदस्मीति च यो वेद, स मुक्तो नात्र संशयः ॥२५॥

जो सर्व-चराचर लोगों का मुख्य जीवन रूप, संकल्पका साक्षी-ज्ञान स्वरूप है, 'वही मैं हूँ' इसप्रकार जो पुरुष जानता है, वह मुक्त है, इसमें कुछ संशय नहीं है ।

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा ।
यस्य भासाऽवभासेत, मानं ज्ञानाय तस्य किम् ॥२६॥

प्रमाता, (अन्तःकरण विशिष्ट जीवात्मा) प्रमाण, (प्रत्यक्षादि) प्रमेय, (घटपटादि) तथा प्रमा, (वृत्तिज्ञान) जिस चैतन्य-प्रकाशसे प्रतीत होते हैं, उस चैतन्य-ज्ञानके लिए कौन प्रमाण चाहिये ? अर्थात् चैतन्यवस्तु स्वतःसिद्ध-स्वयंप्रकाश है, प्रमाणान्तरसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता ।

अर्थाकारा भवेद्वृत्तिः, फलेनार्थः प्रकाशते ।
अर्थज्ञानं विजानाति, स एवार्थः परः स्मृतः ॥२७॥

अन्तःकरणकी वृत्ति पदार्थाकार होती है, चिदाभासरूप फल-(अन्तःकरण प्रतिबिम्बित-चैतन्य) से पदार्थ का भान होता है, पदार्थज्ञानका जो प्रकाशक है, वही परम-अर्थ (श्रेष्ठ-वस्तु) आत्म-चैतन्य कहा गया है ।

स्वप्रकाशस्वरूपत्वात्, सिद्धत्वाच्च चिदात्मनः ।
वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्तु फलव्याप्तिः कथं भवेत् ? ॥२८॥

चिदात्मा स्वप्रकाशस्वरूप एवं स्वतःसिद्ध है, अतएव वह आवरणभंगरूप-वृत्तिव्याप्ति का ही विषय है, उसमें फलव्याप्ति कैसे हो सकती है ?

अर्थादर्थे यदा वृत्ति र्गन्तुं चलति चान्तरे।
निराधारा निर्विकारा या दशा सोन्मनी स्मृता ॥२९॥

एक पदार्थ से हटकर वृत्ति जब द्वितीय-पदार्थ के तरफ जाने के लिये तैयार होती है, उसके बीचमें जो नीराधार (विषयालम्बन-शून्य) निर्विकार दशा है, वह उन्मनी कही जाती है।

चित्तं चिच्च विजानीयात्, तकाररहितं यदा।
तकारो विषयाध्यासो, जपारागो यथा मणौ ॥३०॥

जब चित्त 'त' कार रहित हो जाता है, तब वह चित्त मिटकर चित् (चेतन) हो जाता है, जैसे स्फटिकमणिमें जपा-कुसुमकी लालिमाका अध्यास है, तैसे चित् में अनात्म-विषयोंका अध्यास ही 'त'कार है, इसके सम्बन्धसे चित् चित्त होजाता है।

ज्ञेयवस्तुपरित्यागात्, ज्ञानं तिष्ठति केवलम्।
त्रिपुटी क्षीणतामेति, ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥३१॥

ज्ञेय वस्तु-(ज्ञानका विषय अनात्म-पदार्थ) के परित्यागसे केवल-विशुद्ध-ज्ञान चेतन-आत्मा ही रह जाता है, ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेयरूप त्रिपुटीका क्षय हो जाता है, और विद्वान् ब्रह्मनिर्वाण-पदको प्राप्त हो जाता है।

मनोमात्रमिदं सर्वं, तन्मनोऽज्ञानमात्रकम्।
अज्ञानं भ्रम इत्याहु र्विज्ञानं परमं पदम् ॥३२॥

यह समस्त संसार एकमात्र मनरूप है, वह मन अज्ञानमात्र है, अज्ञान भ्रमरूप है, और विज्ञान परमपद है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

सदानन्दे चिदाकाशे, मायामेघस्तडिन्मनः ।
अहंता गर्जनं तत्र, धारासारा हि वृत्तयः ॥३३॥
महामोहान्धकारेऽस्मिन्, देवो वर्षति लीलया ।
अस्या वृष्टेर्विरामाय, प्रबोधैकसमीरणः ॥३४॥

सदानन्द-चेतनरूप आकाशमें माया मेघ है, मन विद्युत् है, अहंकार गर्जना है, वहाँ मनकी विविध-वृत्तियाँ ही वर्षा की प्रबल-धाराओंका गिरना है, महामोहरूप इस अन्धकारमें लीलासे देव वर्ष रहा है, इस वृष्टिकी समाप्ति करनेके लिये एकमात्र-विज्ञानरूप-वायु ही समर्थ है ।

ब्रह्माध्ययनसंयुक्तो, ब्रह्मचर्यरतः सदा ।
सर्वं ब्रह्मेति यो वेद, ब्रह्मचारी स उच्यते ॥३५॥

वेदाध्ययनसे युक्त, एवं ब्रह्मचर्य व्रतमें सदा प्रीति सम्पन्न है, तथा 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा जो जानता है, वह ब्रह्मचारी कहा जाता है।

गृहस्थो गुणमध्यस्थः, शरीरं गृहमुच्यते ।
गुणाः कुर्वन्ति कर्माणि, नाहंकर्तेति बुद्धिमान् ॥३६॥

सत्त्वादिगुणोंसे तथा तत्कार्य जगत् से जो मध्यस्थ (राग-द्वेष-रहित-तटस्थ) रहता है, वह गृहस्थ है, यह शरीर गृह कहा जाता है, सत्त्वादिगुण ही कर्मोंके कर्ता हैं, मैं कर्ता नहीं हूँ ऐसा बुद्धिमान् निश्चय करता है ।

किमुग्रैश्च तपोभिश्च यस्य ज्ञानमयं तपः।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो, वानप्रस्थः स उच्यते ॥३७॥

जिसका ज्ञानमय तप है, उसको उग्र-तपोंसे क्या प्रयोजन ? जो हर्ष एवं अमर्ष (ईर्ष्या) से मुक्त है, वह वानप्रस्थ कहा जाता है।

हठाभ्यासो हि संन्यासो, नैव काषायवाससा।
नाहं देहोऽहमात्मेति, निश्चयो न्यासलक्षणम् ॥३८॥

केवल काषाय-वस्त्रसे ही संन्यास नहीं होता, किन्तु प्राणायाम, धारणा आदि का हठाभ्यास पूर्वक 'मैं देह नहीं हूँ, किन्तु मैं आत्मा हूँ' यह दृढ़निश्चय ही संन्यास का लक्षण है।

अभयं सर्वभूतानां, दानमाहुर्मनीषिणः।
निजानन्दे स्पृहा नान्यद्वैराग्यस्यावधिर्मतः ॥३९॥

सभी प्राणियोंको अभय प्रदान करना ही दान है, निजानन्द में ही स्पृहा है, अन्यमें नहीं, यही वैराग्यकी अवधि मानी है, ऐसा विद्वान कहते हैं।

सदाचारमिमं नित्यं, येऽनुसन्दधते बुधाः।
संसारसागराच्छीघ्रं, मुच्यन्ते नात्र संशयः ॥४०॥

जो विद्वान् इस सदाचार का सदा अनुसन्धान (विचार-मनन) करते हैं, वे शीघ्रही संसार-सागरसे मुक्त हो जाते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

॥ इति सदाचारानुसन्धानं समाप्तम् ॥

श्रीलक्ष्मीनृसिंहस्तोत्रम्

श्रीमत्पयोनिधिनिकेतन ! चक्रपाणे !,
भोगीन्द्रभोगमणिरञ्जितपुण्यमूर्ते ! ।
योगीश ! शाश्वत ! शरण्य ! भवाब्धिपोत !,
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ १ ॥

हे अतिशोभायमान-क्षीरसमुद्रमें निवास करनेवाले ! हाथमें चक्र धारण करनेवाले ! नागनाथ (शेषजी) के फणोंकी मणियोंसे देदीप्य-मान-मनोहर पवित्र मूर्तिवाले ! हे योगीश ! हे सनातन ! हे शरणा-गतवत्सल ! हे संसार सागरके लिये नौकास्वरूप ! श्रीलक्ष्मीनृसिंह ! मुझे अपने कर-(हस्त) कमलका सहारा (आश्रय) दीजिये अर्थात् आपका वरद करकमल मेरे मस्तकपर धरकर, अपने हस्तसे मेरा हाथ पकड़कर मेरा उद्धार कर मुझे सदाके लिये निर्भय बनाइये ।

ब्रह्मेन्द्ररुद्रमरुदर्ककिरीटकोटि-
सङ्घट्टिताङ्घ्रिकमलामलकान्तिकान्त ! ।
लक्ष्मीलसत्कुचसरोरुहराजहंस !
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ २ ॥

आपके अमल चरणकमल ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, मरुत् और सूर्य आदिके किरीटोंकी कोटियोंके समूहसे अति देदीप्यमान हो रहे हैं । हे श्रीलक्ष्मीजीके कुचकमलके राजहंस ! श्रीलक्ष्मीनृसिंह ! मुझे अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारघोरगहने चरतो मुरारे !
मारोग्रभीकरमृगप्रवरार्दितस्य ।
आर्तस्य मत्सरनिदाघनिपीडितस्य
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ ३ ॥

हे मुरारे ! संसाररूप गहन वनमें विचरते हुए कामदेवरूप अति उग्र और भयानक मृगराजसे पीडित तथा मत्सररूप घामसे सन्तप्त मुझ अति आर्तको हे लक्ष्मीनृसिंह ! अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारकूपमतिघोरमगाधमूलं
सम्प्राप्य दुःखशतसर्पसमाकुलस्य ।
दीनस्य देव ! कृपणापदमागतस्य
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ ४ ॥

संसाररूप अतिभयानक और अगाध कूपके मूलमें पहुँचकर जो सैकड़ों प्रकारके दुःखरूप सर्पोंसे व्याकुल और अत्यन्त दीन हो रहा है, उस अति कृपण और आपत्तिग्रस्त मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह-देव ! अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारसागरविशालकरालकाल-
नक्रग्रहग्रसननिग्रहविग्रहस्य ।
व्यग्रस्य रागरसनोर्मिनिपीडितस्य
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ ५ ॥

संसारसागरमें अति कराल और महान् कालरूप नक्रों और ग्राहोंके ग्रसनेसे जिसका शरीर निगृहीत हो रहा है, तथा आसक्ति और रसनारूप तरङ्गमालासे जो अति पीडित है, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह ! अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारवृक्षमघबीजमनन्तकर्म-
शाखाशतं करणपत्रमनङ्गपुष्पम् ।
आरुह्य दुःखफलितं पततो दयालो !
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ ६ ॥

हे दयालो ! पाप जिसका बीज है, अनन्त कर्म सैकड़ों शाखाएँ हैं, इन्द्रियाँ पत्ते हैं, कामदेव पुष्प है तथा दुःख ही जिसका फल है, ऐसे संसाररूप वृक्षपर चढ़कर मैं नीचे गिर रहा हूँ; ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह ! अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारसर्पघनवक्त्रभयोग्रतीव्र-
दंष्ट्राकरालविषदग्धविनष्टमूर्तेः ।
नागारिवाहन ! सुधाब्धिनिवास ! शौरे !
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ ७ ॥

इस संसारसर्पके विकट मुखकी भयरूप उग्र दाढ़ोंके कराल विषसे दग्ध होकर नष्ट हुए मुझको हे गरुडवाहन, क्षीरसागरशायी, शौरि श्रीलक्ष्मीनृसिंह ! आप अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारदावदहनातुरभीकरोरु-
ज्वालावलीभिरतिदग्धतनूरुहस्य ।
त्वत्पादपद्मसरसीशरणागतस्य
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ ८ ॥

संसाररूप दावानलके दाहसे अति आतुर और उसकी भयङ्कर तथा विशाल ज्वाला-मालाओंसे जिसके रोम-रोम दग्ध हो रहे हैं, तथा जिसने आपके चरणकमलरूप सरोवरकी शरण ली है, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह ! अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारजालपतितस्य जगन्निवास !
सर्वेन्द्रियार्थबडिशार्थझषोपमस्य ।
प्रोत्खण्डितप्रचुरतालुकमस्तकस्य
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥ ९ ॥

हे जगन्निवास ! सकल इन्द्रियोंके विषयरूप वंशी [उसमें फँसने] के लिये मत्स्यके समान संसारपाशमें पड़कर जिसके तालु और मस्तक खण्डित हो गये हैं, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह ! अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

संसारभीकरकरीन्द्रकराभिघात-
निष्पिष्टमर्मवपुषः सकलार्तिनाश ! ।
प्राणप्रयाणभवभीतिसमाकुलस्य
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥१०॥

हे सकलार्त्तिनाशक ! संसाररूप भयानक गजराजकी सूँडके आपातसे जिसके मर्मस्थान कुचल गये हैं तथा जो प्राणप्रयाणके सदृश संसार [जन्म-मरण] के भयसे अति व्याकुल है, ऐसे मुझको हे लक्ष्मीनृसिंह ! अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

अन्धस्य मे हृतविवेकमहाधनस्य
चोरैः प्रभो ! बलिभिरिन्द्रियनामधेयैः ।
मोहान्धकूपकुहरे विनिपातितस्य
लक्ष्मीनृसिंह ! मम देहि करावलम्बम् ॥११॥

हे प्रभो ! इन्द्रियनामक प्रबल चोरोंने जिसके विवेकरूप परम-धनको हर लिया है, तथा मोहरूप अन्धकूपके गड्ढेमें जो गिरा दिया गया है, ऐसे मुझ अन्धको, हे लक्ष्मीनृसिंह ! आप अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

लक्ष्मीपते ! कमलनाभ ! सुरेश ! विष्णो !
वैकुण्ठ ! कृष्ण ! मधुसूदन ! पुष्कराक्ष ! ।
ब्रह्मण्य ! केशव ! जनार्दन ! वासुदेव !
देवेश ! देहि कृपणस्य करावलम्बम् ॥१२॥

हे लक्ष्मीपते ! हे कमलनाभ ! हे देवेश्वर ! हे विष्णो ! हे वैकुण्ठ ! हे कृष्ण ! हे मधुसूदन ! हे कमलनयन ! हे ब्रह्मण्य ! हे केशव ! हे जनार्दन ! हे वासुदेव ! हे देवेश ! मुझ दीनको आप अपने करकमलका सहारा दीजिये ।

यन्माययोर्जितवपुःप्रचुरप्रवाह-

मग्नार्थमत्र निवहोरुकरावलम्बम् ।

लक्ष्मीनृसिंहचरणाब्जमधुव्रतेन

स्तोत्रं कृतं सुखकरं भुवि शङ्करेण ॥१३॥

जिसका स्वरूप मायासे ही प्रकट हुआ है, उस प्रचुर संसार-प्रवाहमें डूबे हुए पुरुषोंके लिये जो इस लोकमें अति बलवान् करावलम्बरूप है, ऐसा यह सुखप्रद स्तोत्र इस पृथिवीतलपर लक्ष्मी-नृसिंहके चरणकमलके लिये मधुकररूप श्रीशङ्कर [आचार्य श्रीशंकर स्वामी] ने रचा है।

——:०:——

विवेक-सुधा

(विवेकचूडामणिसमुद्धृतकतिपयश्लोकसंग्रहः)

सर्ववेदान्तसिद्धान्त-गोचरं तमगोचरम् ।

गोविन्दं परमानन्दं, सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥

जो वस्तुतः अज्ञेय होकर भी सम्पूर्ण वेदान्तके सिद्धान्त-वाक्योंसे जाने जाते हैं, उन परमानन्दस्वरूप सद्गुरुदेव श्रीगोविन्द भगवत्पादाचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं

तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।

यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः

स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥ २ ॥

किसी प्रकार-पूर्वकृतपुण्यसञ्चयसे इस दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर और उसमें भी, जिसमें श्रुतिके सिद्धान्तका ज्ञान होता है ऐसा पुरुषत्व पाकर जो मूढबुद्धि अपने आत्माकी मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है; वह असत्-संसारमें आस्था रखनेके कारण अपनेको नष्ट करता है।

इतः को न्वस्ति मूढात्मा, यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।

दुर्लभं मानुषं देहं, प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥ ३ ॥

दुर्लभ मनुष्य-देह और उसमें भी पुरुषत्वको पाकर जो स्वार्थ-साधनमें प्रमाद करता है, उससे अधिक मूढ और कौन होगा?

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्

कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।

आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति-

र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥ ४ ॥

भले ही कोई शास्त्रोंकी व्याख्या करें, देवताओंका यजन करें, नाना शुभ कर्म करें अथवा देवताओंको भजें, तथापि जबतक ब्रह्म और आत्माकी एकताका बोध नहीं होता, तबतक सौ ब्रह्माओंके बीत जानेपर भी [अर्थात् सौ कल्पमें भी] मुक्ति नहीं हो सकती।

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्, संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं, तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ॥ ५ ॥

इसलिये विद्वान् सम्पूर्ण बाह्य विषय भोगोंकी इच्छा त्यागकर सन्तशिरोमणि गुरुदेवकी शरण जाकर उनके उपदेश किये हुए विषयमें समाहित होकर मुक्तिके लिये प्रयत्न करे ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म, न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण, न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥ ६ ॥

कर्म चित्तकी शुद्धिके लिये ही है, वस्तूपलब्धि (तत्त्वदृष्टि) के लिये नहीं । वस्तु-सिद्धि तो विचारसे ही होती है, करोड़ों कर्मोंसे कुछ भी नहीं हो सकता ।

अधिकारिणमाशास्ते, फलसिद्धिर्विशेषतः ।
उपाया देशकालाद्याः, सन्त्यस्मिन्सहकारिणः ॥ ७ ॥

विशेषतः अधिकारीको ही फल-सिद्धि होती है; देश, काल आदि उपाय भी उसमें सहायक अवश्य होते हैं ।

अतो विचारः कर्तव्यो, जिज्ञासोरात्मवस्तुनः ।
समासाद्य दयासिन्धुं, गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ॥ ८ ॥

अतः ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ दयासागर गुरुदेवकी शरणमें जाकर जिज्ञासुको आत्म-तत्त्वका विचार करना चाहिये ।

विवेकिनो विरक्तस्य, शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्म-जिज्ञासायोग्यता मता ॥ ९ ॥

जो सदसद्विवेकी, वैराग्यवान, शम-दमादि षट्सम्पत्तियुक्त और मुमुक्षु है, उसीमें ब्रह्मजिज्ञासाकी योग्यता मानी गयी है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्ये-त्येवंरूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तु-विवेकः समुदाहृतः ॥ १० ॥

'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है' ऐसा जो निश्चय है यही 'नित्यानित्य-वस्तु-विवेक' कहलाता है।

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या, दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते, ह्यनित्ये भोग्यवस्तुनि ॥ ११ ॥

दर्शन और श्रवणादिके द्वारा देहसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थोंमें जो घृणाबुद्धि है वही 'वैराग्य' है।

विरज्य विषयव्राता-द्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था, मनसः शम उच्यते ॥ १२ ॥

वारंवार दोष-दृष्टि करनेसे विषय-समूहसे विरक्त होकर चित्तका अपने लक्ष्यमें स्थिर हो जाना ही 'शम' है।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ॥
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ॥ १३ ॥

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंको उनके विषयोंसे खींचकर अपने-अपने गोलकोंमें स्थित करना 'दम' कहलाता है। वृत्तिका बाह्य विषयोंका आश्रय न लेना यही उत्तम 'उपरति' है।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥१४॥

चिन्ता और शोकसे रहित होकर विना कोई प्रतिकार किये सब प्रकारके कष्टोंका सहन करना 'तितिक्षा' कहलाती है ।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥१५॥

शास्त्र और गुरुवाक्योंमें सत्यत्व बुद्धि करना—इसीको सज्जनोंने 'श्रद्धा' कहा है, जिससे कि—वस्तुकी प्राप्ति होती है ।

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥१६॥

अपनी बुद्धिको सभी प्रकारसे शुद्ध ब्रह्ममें ही सदा स्थिर रखना इसीको 'समाधान' कहा है । चित्तकी विषयलालसा-पूर्तिका नाम समाधान नहीं है ।

अहङ्कारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥१७॥

अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन हैं, उनको अपने स्वरूपके ज्ञानद्वारा त्यागनेकी इच्छा 'मुमुक्षुता' है ।

मन्दमध्यमरूपापि वैराग्येण शमादिना ।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ॥१८॥

वह मुमुक्षुता मन्द और मध्यम भी हो तो भी वैराग्य तथा शमादि षट्सम्पत्ति और गुरुकृपासे बढ़कर फल उत्पन्न करती है ।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥१९॥

जिस पुरुषमें वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं, उसीमें शमादि चरितार्थ और सफल होते हैं ।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥२०॥

मुक्तिकी कारणरूप सामग्रीमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसन्धान करना ही 'भक्ति' कहलाता है ।

उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ।
उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम् ॥२१॥

उक्त साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न आत्मतत्त्वका जिज्ञासु प्राज्ञ (स्थितप्रज्ञ) पुरुष गुरुके निकट जाय, जिससे उसके भवबन्धकी निवृत्ति हो ।

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ॥२२॥
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ।
तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः ॥
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ॥२३॥

जो श्रोत्रिय हों, निष्पाप हों, कामनाओंसे शून्य हों, ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, ईंधनरहित अग्निके समान शान्त हों, अकारण दयासिन्धु हों और प्रणत (शरणापन्न) सज्जनोंके बन्धु

(हितैषी) हों, उन गुरुदेवकी विनीत और विनम्र सेवासे भक्तिपूर्वक आराधना करके, उनके प्रसन्न होनेपर निकट जाकर अपना ज्ञातव्य इस प्रकार पूछे—

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो ! कारुण्यसिन्धो ! पतितं भवाब्धौ ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥२४॥

हे शरणागतवत्सल, करुणासागर, प्रभो ! आपको नमस्कार है। संसार-सागरमें पड़े हुए मेरा आप अपनी सरल तथा अतिशय कारुण्यामृतवर्षिणी-कृपाकटाक्षसे उद्धार कीजिये ।

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं, दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः ।
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः शरण्यमन्यं यदहं न जाने ॥२५॥

जिससे छुटकारा पाना अति कठिन है उस संसार-दावानलसे दग्ध तथा दुर्भाग्यरूपी प्रबल प्रभञ्जन (आँधी) से अत्यन्त कम्पित और भयभीत हुए मुझ शरणागतकी आप मृत्युसे रक्षा कीजिये; क्योंकि-इस समय मैं और किसी शरण देनेवालेको नहीं जानता।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो, वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥२६॥

भयंकर संसार-सागरसे स्वयं उत्तीर्ण हुए और अन्य जनोंको भी विना कारण ही तारते तथा लोकहितका आचरण करते, अति शान्त महापुरुष ऋतुराज वसन्तके समान निवास करते हैं ।

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम् ।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥२७॥

महात्माओंका यह स्वभाव ही है कि-वे स्वतः ही दूसरोंका श्रम दूर करनेमें प्रवृत्त होते हैं । सूर्यके प्रचण्ड तेजसे सन्तप्त पृथ्वीतलको चन्द्रदेव स्वयं ही शान्त कर देते हैं ।

ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैः सितै-
र्युष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय ।
संतप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो !
धन्यास्ते भवदीक्षणक्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ॥२८॥

हे प्रभो ! प्रचण्ड संसार-दावानलकी ज्वालासे तपे हुए इस दीनशरणापन्नको आप अपने ब्रह्मानन्दरसानुभवसे युक्त परमपुनीत, सुशीतल, निर्मल और वाक्रूपी स्वर्णकलशसे निकले हुए श्रवणसुखद वचनामृतोंसे सींचिये [अर्थात् इसके तापको शान्त कीजिये]। वे धन्य हैं, जो आपके एक क्षणके करुणामय दृष्टिपथके पात्र होकर अपना लिये गये हैं ।

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः ।
जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भो ! संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥२९॥

'मैं इस संसार-समुद्रको कैसे तरूँगा ? मेरी क्या गति होगी ? उसका क्या उपाय है ?'—यह मैं कुछ नहीं जानता । प्रभो ! कृपया मेरी रक्षा कीजिये और मेरे संसार-दुःखके क्षयका आयोजन कीजिये ।

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं संसारदावानलतापतप्तम् ।
निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्टया दद्यादभीतिं सहसा महात्मा ॥३०॥

इस प्रकार कहते हुए, अपनी शरणमें आये संसारानल-सन्तप्त शिष्यको महात्मा गुरु करुणामयी दृष्टिसे देखकर सहसा अभय प्रदान करे ।

विद्वान्स तस्मा उपसत्तिमीयुषे मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे ।
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ॥३१॥

शरणागतिकी इच्छावाले उस मुमुक्षु, आज्ञाकारी, शान्तचित्त, शमादिसंयुक्त साधुशिष्यको गुरु कृपया [इसप्रकार] तत्त्वोपदेश करे—

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः ।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥३२॥

गुरु—हे विद्वन् ! तू डर मत, तेरा नाश नहीं होगा । संसार-सागरसे तरनेका उपाय है । जिस मार्गसे यतिजन इसके पार गये हैं, वही मार्ग मैं तुझे दिखाता हूँ ।

अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभयनाशनः ।
येन तीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि ॥३३॥

संसाररूपी भयका नाश करनेवाला कोई एक महान् उपाय है, जिसके द्वारा तू संसार-सागरको पार करके परमानन्द प्राप्त करेगा ।

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥३४॥

वेदान्त-वाक्योंके अर्थका विचार करनेसे उत्तम ज्ञान होता है, जिससे फिर संसार-दुःखका आत्यन्तिक नाश हो जाता है ।

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-र्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः ।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ॥३५॥

श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग इनको भगवती श्रुति मुमुक्षुकी मुक्तिके साक्षात् हेतु बतलाती है । जो इन्हींमें स्थित हो जाता है उसका अविद्याकल्पित देह-बन्धनसे मोक्ष हो जाता है ।

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः ।
तयोर्विवेकोदितबोधवह्नि-रज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम् ॥३६॥

तुझ परमात्माका अनात्म-बन्धन अज्ञानके कारण ही है, और उसीसे तुझको [जन्म-मरणरूप] संसार प्राप्त हुआ है । अतः उन (आत्मा और अनात्मा) के विवेकसे उत्पन्न हुआ बोधरूप अग्नि अज्ञानके कार्यरूप संसारको मूलसहित भस्म कर देगा ।

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया ।
यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ॥३७॥

गुरु—तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरा कुल तुझसे पवित्र हो गया, क्योंकि-तू अविद्यारूपी बन्धनसे छूटकर ब्रह्मभावको प्राप्त होना चाहता है,

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥३८॥

पिताके ऋणको चुकानेवाले तो पुत्रादि भी होते हैं, परन्तु भवबन्धनसे छुडानेवाला अपनेसे भिन्न और कोई नहीं है ।

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥३९॥

जिस प्रकार वीणाका रूप-लावण्य तथा तन्त्रीको बजानेका सुन्दर ढंग मनुष्योंके मनोरञ्जनका ही कारण होता है, उससे कुछ साम्राज्यकी प्राप्ति नहीं हो जाती; उसी प्रकार विद्वानोंकी वाणीकी कुशलता, शब्दोंकी धारावाहिकता, शास्त्र-व्याख्यानकी कुशलता और विद्वत्ता भोगहीका कारण हो सकती हैं, मोक्षका नहीं ।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥४०॥

परमतत्त्वको यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल (व्यर्थ) ही है, और यदि परमतत्त्वको जान लिया तो भी शास्त्राध्ययन निष्फल (अनावश्यक) ही है ।

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः ॥४१॥

शब्दजाल तो चित्तको भटकानेवाला एक महान् वन है, इसलिये किन्हीं तत्त्वज्ञानी महात्मासे प्रयत्नपूर्वक आत्मतत्त्वको जानना चाहिये।

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥४२॥

औषधको बिना पिये केवल औषध-शब्दके उच्चारणमात्रसे रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभवके बिना केवल 'ब्रह्म, ब्रह्म' कहनेसे कोई मुक्त नहीं हो सकता ।

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥४३॥

बिना दृश्य-प्रपञ्चका विलय किये और बिना आत्मतत्त्वको जाने केवल बाह्य शब्दोंसे-जिनका फल केवल उच्चारणमात्र ही है-मनुष्योंकी मुक्ति कैसे हो सकती है ?

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम् ।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥४४॥

बिना शत्रुओंका वध किये और बिना सम्पूर्ण पृथिवीमण्डलका ऐश्वर्य प्राप्त किये, 'मैं राजा हूँ'—ऐसा कहनेसे ही कोई राजा नहीं हो जाता ।

आप्तोक्तिं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमनननध्यानादिभिर्लभ्यते
मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥४५॥

[पृथिवीमें गड़े हुए धनको प्राप्त करनेके लिये जैसे] प्रथम किसी विश्वसनीय पुरुषके कथनकी, और फिर पृथिवीको खोदने, कंकड़पत्थर आदिको हटाने तथा [प्राप्त हुए धनको] स्वीकार करनेकी आवश्यकता होती है—कोरी बातोंसे वह बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार समस्त मायिक-प्रपञ्चसे शून्य निर्मल आत्मतत्त्व भी ब्रह्मवित् गुरुके उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यासनादिसे ही प्राप्त होता है, थोथी बातोंसे नहीं ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये ।
स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादाविव पण्डितैः ॥४६॥

इसलिये रोग आदिके समान भव-बन्धकी निवृत्तिके लिये विद्वान्‌को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिये।

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि ।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥४७॥

दोषमें विषय काले सर्पके विषसे भी अधिक तीव्र है, क्योंकि विष तो खानेवालेको ही मारता है, परन्तु विषय तो आँखसे देखनेवालेको भी नहीं छोड़ते ।

विषयाशामहापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ॥४८॥

जो विषयोंकी आशारूप कठिन बन्धनसे छूटा हुआ है, वही मोक्षका भागी होता है और कोई नहीं; चाहे वह छहों दर्शनोंका ज्ञाता भी क्यों न हो ।

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः ।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥४९॥

जिसने वैराग्यरूपी खड्गसे विषयैषणारूपी ग्राहको मार दिया है, वही निर्विघ्न संसार-समुद्रके उस पार जा सकता है ।

विषमविषयमार्गैर्गच्छतोऽनच्छबुद्धेः
प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि ।

हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या
प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥५०॥

विषयरूपी विषम मार्गमें चलनेवाले मलिनबुद्धिको पद-पदपर मृत्यु आती है—ऐसा जानो। और यह भी बिल्कुल ठीक समझो कि-हितैषी, सज्जन अथवा गुरुके कथनानुसार अपनी युक्तिसे चलनेवालेको फल-सिद्धि हो ही जाती है।

मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥५१॥

यदि तुझे मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान दूरहीसे त्याग दे। और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम और दमका अमृतके समान नित्य आदरपूर्वक सेवन कर।

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥५२॥

शरीरादिमें मोह रखना ही मुमुक्षुकी बड़ी भारी मौत है; जिसने मोहको जीता है वही मुक्तिपदका अधिकारी है।

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥५३॥

देह, स्त्री और पुत्रादिमें मोहरूप महामृत्युको छोड़; जिसको जीतकर मुनिजन भगवान् के उस परम पदको प्राप्त होते हैं।

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम्।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ॥५४॥

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु (नस), मेद, मज्जा और अस्थियोंका समूह, तथा मल-मूत्रसे भरा हुआ यह स्थूल देह अति निन्दनीय है।

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः ॥५५॥

विषय स्वतः प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं, क्योंकि-स्वतः प्रियतम तो सबको आत्मा ही है।

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन।
यत्सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते।
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति ॥५६॥

इसलिये आत्मा सदा आनन्दस्वरूप है, इसमें दुःख कभी नहीं है। तभी सुषुप्तिमें विषयोंका अभाव रहते हुए भी आत्मानन्दका अनुभव होता है। इस विषयमें श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (इतिहास) और अनुमान-प्रमाण जागृत (मौजूद) हैं।

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥५७॥

माया न सत् है, न असत् है और न [सदसत्] उभयरूप है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न [भिन्नाभिन्न] उभयरूप है; न अंगसहित है न अंग-रहित है, और न [सांगानंग] उभयात्मिका ही है; किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूपा (जो कही न जा सके ऐसी) है।

शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा ।
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः ॥५८॥

रज्जुके ज्ञानसे सर्प-भ्रमके समान वह माया अद्वितीय शुद्ध ब्रह्मके ज्ञानसे ही नष्ट होनेवाली है। अपने-अपने प्रसिद्ध कार्योंके कारण सत्त्व, रज और तम—उसके तीन गुण प्रसिद्ध हैं।

एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो निरन्तराखण्डसुखानुभूतिः ।
सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥५९॥

यही नित्य अखण्डानन्दानुभवरूप अन्तरात्मा पुराणपुरुष है, जो सदा एकरूप और बोधमात्र है तथा जिसकी प्रेरणासे वागादि-इन्द्रियाँ और प्राण चलते हैं।

न जायते नो म्रियते न वर्धते न क्षीयते नो विकरोति नित्यः ।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन् न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ॥६०॥

वह न जन्मता है, न मरता है, न बढ़ता है, न घटता है और न विकारको प्राप्त होता है। वह नित्य है, और इस शरीरके लीन होनेपर भी घटके टूटनेपर घटाकाशके समान लीन नहीं होता।

प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः ।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षिरूपेण बुद्धेः ॥६१॥

प्रकृति और उसके विकारोंसे भिन्न, शुद्ध ज्ञानस्वरूप, वह निर्विशेष परमात्मा सत्-असत् सबको प्रकाशित करता हुआ जाग्रत् आदि

अवस्थाओंमें अहंभावसे स्फुरित होता हुआ बुद्धिके साक्षीरूपसे साक्षात् विराजमान है ।

नियमितमनसामुं त्वं स्वमात्मानमात्म-
न्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।
जनिमरणतरङ्गापारसंसारसिन्धुं
प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः ॥६२॥

तू इस आत्माको संयतचित्त होकर बुद्धिके प्रसन्न होनेपर 'यह मैं हूँ'—ऐसा अपने अन्तःकरणमें साक्षात् अनुभव कर। और [इस प्रकार] जन्म-मरणरूपी तरंगोंवाले इस अपार संसारसागरको पार कर तथा ब्रह्मरूपसे स्थित होकर कृतार्थ हो जा ।

अत्रानात्मन्यहमिति मतिर्बन्ध एषोऽस्य पुंसः
प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरणक्लेशसम्पातहेतुः ।
येनैवायं वपुरिदमसत्सत्यमित्यात्मबुद्ध्या
पुष्यत्युक्षत्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ॥६३॥

पुरुषका अनात्म-वस्तुओंमें 'अहम्' इस आत्म-बुद्धिका होना ही जन्म-मरणरूपी क्लेशोंकी प्राप्ति करानेवाला अज्ञानसे प्राप्त हुआ बन्धन है; जिसके कारण यह जीव इस असत् शरीरको सत्य समझकर इसमें आत्मबुद्धि हो जानेसे, तन्तुओंसे रेशमके कीड़ेके समान, इसका विषयोंद्वारा पोषण, मार्जन और रक्षण करता रहता है ।

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा ।

ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-
स्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ! ॥६४॥

मूढ पुरुषको तमोगुणके कारण ही अन्यमें अन्य-बुद्धि होती है; विवेक न होनेसे ही रज्जुमें सर्प-बुद्धि होती है; ऐसी बुद्धिवालेको ही नाना प्रकारके अनर्थोंका समूह आ घेरता है; अतः हे मित्र ! सुन, यह जो असद्ग्राह (असत् को सत्य मानना) है वही बन्धन है ।

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम् ।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम् ॥६५॥

अखण्ड, नित्य और अद्वय बोध-शक्तिसे स्फुरित होते हुए अखण्डैश्वर्यसम्पन्न आत्मतत्त्वको यह तमोमयी आवरणशक्ति इस प्रकार ढक लेती है, जैसे सूर्यमण्डलको राहु ।

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्म–निष्ठा तयैवात्मविशुद्धिरस्य ।
विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं तेनैव संसारसमूलनाशः ॥६६॥

जिसका श्रुतिप्रामाण्यमें दृढ निश्चय होता है, उसीकी स्वधर्ममें निष्ठा होती है और उसीसे उसकी चित्तशुद्धि हो जाती है; जिसका चित्त शुद्ध होता है उसीको परमात्माका ज्ञान होता है और इस ज्ञानसे ही संसाररूपी वृक्षका समूल नाश होता है ।

तच्छैवालापनये सम्यक् सलिलं प्रतीयते शुद्धम् ।
तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः ॥६७॥
पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः ।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयंज्योतिः ॥६८॥

जिस प्रकार उस शिवालके पूर्णतया दूर हो जानेपर मनुष्योंके तृषारूपी तापको दूर करनेवाला तथा उन्हें तत्काल ही परम सुख-प्रदान करनेवाला जल स्पष्ट प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार पाँचों कोशोंका अपवाद करनेपर यह शुद्ध, नित्यानन्दैकरसस्वरूप, अन्तर्यामी, स्वयं-प्रकाश परमात्मा भासने लगता है ।

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गा-त्प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम् ।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ॥६९॥

जो पुरुष अपने असंग और अक्रिय प्रत्यगात्माको मूँजमेंसे सींकके समान दृश्यवर्गसे पृथक् करके तथा सबका उसीमें लय करके आत्मभावसे ही स्थित रहता है, वही मुक्त है ।

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशा-वहंमतिं मूढजनः करोति ।
विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो निजस्वरूपं परमार्थभूतम् ॥७०॥

त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मलकी राशिरूप इस देहमें मूढ़जन ही अहंबुद्धि करते हैं, । विचारशील तो अपने पारमार्थिक स्वरूपको इससे पृथक् ही जानते हैं ।

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे ! त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशौ ।
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व ॥७१॥

अरे मूर्ख ! इस त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मलादिके समूहमें आत्मबुद्धि छोड़ और सर्वात्मा निर्विकल्प ब्रह्ममें ही आत्मभाव करके परम शान्तिका भोग कर ।

देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम् ।
यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्ना-त्त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ॥७२॥

देहात्म-बुद्धि ही असद्बुद्धि-वाले मनुष्योंके जन्मादि दुःखोंकी उत्पत्तिकी कारण है, अतः उसे तू प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे, उस बुद्धिके छूट जानेपर फिर पुनर्जन्मकी कोई आशंका न रहेगी।

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥७३॥

मनसे अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है, मन ही भवबन्धनकी हेतुभूता अविद्या है। उसके नष्ट होनेपर सब नष्ट हो जाता है और उसीके जागृत होनेपर सब कुछ प्रतीत होने लगता है।

विशोक आनन्दघनो विपश्चि-त्स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित् ।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्ते-र्विना स्वतत्त्वावगमं मुमुक्षोः ॥७४॥

वह अति बुद्धिमान् पुरुष शोकरहित और आनन्दघनरूप हो जानेसे कभी किसीसे भयभीत नहीं होता। मुमुक्षु पुरुषके लिये आत्म-तत्त्वके ज्ञानको छोड़कर संसारबन्धनसे छूटनेका और कोई मार्ग नहीं है अर्थात् आत्मज्ञान ही एकमात्र मुक्तिका मार्ग है।

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः ॥७५॥

ब्रह्म और आत्माके अभेदका ज्ञान ही भवबन्धनसे मुक्त होनेका कारण है, जिसके द्वारा बुद्धिमान् पुरुष अद्वितीय आनन्द-स्वरूप ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम् ।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति ॥७६॥

ब्रह्म सत्य-ज्ञानस्वरूप और अनन्त है; वह शुद्ध, पर, स्वतः-सिद्ध, नित्य, एकमात्र आनन्दस्वरूप, प्रत्यक् (अन्तरतम) और अभिन्न है, तथा निरन्तर विजय-सम्पन्न-उन्नतिशाली है ।

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात् ।
न ह्यन्यदस्ति किञ्चित्सम्यक्परमार्थतत्त्वबोधे हि ॥७७॥

यह परमाद्वैत ही एक सत्य पदार्थ है, क्योंकि-इस स्वात्मासे अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं । इस परमार्थ-तत्त्वका पूर्ण बोध हो जानेपर और कुछ भी नहीं रहता ।

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥७८॥

यह सम्पूर्ण विश्व, जो अज्ञानसे नाना प्रकारका प्रतीत हो रहा है, वह समस्त भावनाओंके दोषसे रहित [अर्थात् निर्विकल्प] निर्विकार-विशुद्ध ब्रह्म ही है ।

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात् ।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः ॥७९॥

मिट्टीका कार्य होनेपर भी घड़ा उससे पृथक् नहीं होता, क्योंकि सब ओरसे मृत्तिकारूप होनेके कारण घड़ेका रूप मृत्तिकासे पृथक् नहीं है, अतः मिट्टीमें मिथ्या ही कल्पित नाममात्र घड़ेकी सत्ता ही कहाँ है ? अर्थात् घड़ा मृत्तिका रूप ही है ।

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते ।
अतो घटः कल्पित एव मोहा-न्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ॥८०॥

मिट्टीसे अलग घड़ेका रूप कोई भी नहीं दिखा सकता। इसलिये घड़ा तो मोहसे (भ्रान्तिसे) ही कल्पित है; वास्तवमें सत्य तो तत्त्वस्वरूपा मृत्तिका ही है।

सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेव तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति ।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥८१॥

सत् ब्रह्मका कार्य यह सकल प्रपञ्च सत्स्वरूप ही है, क्योंकि यह सम्पूर्ण वही तो है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो कहता है कि-[उससे पृथक् भी कुछ] है, उसका मोह दूर नहीं हुआ; उसका यह कथन सोये हुए पुरुषके प्रलापके समान व्यर्थ है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा ।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य ॥८२॥

'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है'—ऐसा अति श्रेष्ठ-अथर्व-श्रुति कहती है। इसलिये यह विश्व ब्रह्ममात्र ही है, क्योंकि-अधिष्ठानसे आरोपित वस्तुकी पृथक् सत्ता हुआ ही नहीं करती।

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽनन्तत्वहानिर्निगमाप्रमाणता ।
असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ॥८३॥

यदि यह जगत् सत्य हो तो आत्माकी अनन्ततामें दोष आता है। और श्रुति अप्रामाणिक हो जाती है तथा ईश्वर (भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र)

भी मिथ्यावादी ठहरते हैं। ये तीनों ही बातें सत्पुरुषोंके लिये शुभ और हितकर नहीं हैं अतः जगत् मिथ्या ही है।

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीक्लृपत् ॥८४॥

परमार्थ-तत्त्वके जाननेवाले भगवान् कृष्णचन्द्रने यह निश्चित किया है कि-'न तो मैं ही भूतोंमें स्थित हूँ और न वे ही मुझमें स्थित हैं।' अतः ये सकल भूत स्वतः सत्ताशून्य कल्पित हैं

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ॥८५॥

यदि यह विश्व सत्य होता तो सुषुप्तिमें भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये थी; किन्तु उस समय इसकी कुछ भी प्रतीति नहीं होती; इसलिये यह स्वप्नके समान असत् और मिथ्या है।

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत्।
आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥८६॥

इसलिये परमात्मासे पृथक् जगत् है ही नहीं, उसकी पृथक् प्रतीति तो गुणीसे गुण आदिकी पृथक् प्रतीतिके समान मिथ्या ही है; आरोपित वस्तुकी वास्तविकता ही क्या ? वह तो अधिष्ठान ही भ्रमसे उस प्रकार अध्यस्त रूपसे भास रहा है।

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः।
इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ॥८७॥

अज्ञानीको अज्ञानवश जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है; जिस प्रकार भ्रमसे प्रतीत हुई चाँदी वस्तुतः सीपी ही है। [इदं जगत् (यह जगत् है)—इसमें] इदं (यह) रूपसे सदा ब्रह्म ही कहा जाता है, ब्रह्ममें आरोपित [जगत्] तो नाममात्र ही है।

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम्।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ॥८८॥

इसलिये परब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध. विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, आदि-अन्त-रहित, अक्रिय और सदैव आनन्दरसस्वरूप है।

निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयंकिञ्चिदिदं चकास्ति ॥८९॥

वह समस्त मायिक भेदोंसे रहित है; नित्य, सुख-स्वरूप, कला-रहित और प्रमाणादिका अविषय है तथा वह कोई अरूप, अव्यक्त, अनाम और अक्षय स्वतःसिद्ध तेज है, जो स्वयं ही निरपेक्ष-स्वतन्त्र प्रकाशित हो रहा है।

तत्त्वंपदाभ्यामभिधीयमानयोर्ब्रह्मात्मनोः शोधितयोर्यदीत्थम्।
श्रुत्या तयोस्तत्त्वमसीति सम्यगेकत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ॥९०॥

'तत्त्वमसि' (छान्दो. ६।८) आदि वाक्योंके तत् और त्वं पदोंसे उपाधित्यागद्वारा शोधन करके कहे हुए ब्रह्म और आत्माका श्रुतिके द्वारा वारंवार पूर्ण एकत्व प्रतिपादन किया गया है।

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययोर्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्मिणोः।
खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः कूपाम्बुराश्योः परमाणुमेर्वोः ॥९१॥

उन सूर्य और खद्योत (जुगनू), राजा और सेवक, समुद्र और कूप तथा सुमेरु और परमाणुके समान परस्पर विरुद्ध धर्म-वालोंका एकत्व लक्ष्यार्थमें ही कहा गया है, वाच्यार्थमें नहीं।

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः।
ईशस्य माया महदादिकारणं जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम्॥९२॥

उन दोनोंका यह विरोध उपाधिसे कल्पित है और यह उपाधि कुछ वास्तविक नहीं है। ईश्वरकी उपाधि महत्तत्त्वादिकी कारण-रूपा माया है तथा जीवकी उपाधि कार्यरूप पञ्चकोश हैं।

अथात आदेश इति श्रुतिः स्वयं निषेधति ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम्।
श्रुतिप्रमाणानुगृहीतयुक्त्या तयोर्निरासः करणीय एव॥९३॥

ब्रह्ममें कल्पित द्वैतको 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृह० २। ३। ६) इत्यादि श्रुति स्वयं निषेध करती है; इसलिये श्रुति-प्रमाणा-नुकूल युक्तिसे उपर्युक्त उपाधियोंका बाध करना ही चाहिये।

नेदं नेदं कल्पितत्वान्न सत्यं रज्ज्वां दृष्टव्यालवत्स्वप्नवच्च।
इत्थं दृश्यं साधुयुक्त्या व्यपोह्य ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्यः॥९४॥

यह दृश्य प्रपञ्च कल्पित होनेके कारण रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प और स्वप्नमें भासनेवाले विविध पदार्थोंकी भाँति सत्य नहीं है; ऐसी ही प्रबल युक्तियोंसे दृश्यका निषेध करनेपर पीछे उन (जीव और ईश्वर) का जो एकभाव बच रहता है वही जाननेयोग्य है।

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य सिद्धं स्वतो व्योमवदप्रतर्क्यम्।
अतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं जहीहि यत्स्वात्मतया गृहीतम्।

ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्ध्या विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ॥९५॥

'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० ३।८७) इत्यादि श्रुतिसे असत् स्थूलता आदिका निरास करनेसे आकाशके समान व्यापक अतर्क्य वस्तु स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। इसलिये आत्मरूपसे गृहीत ये देह आदि मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, इनमें आत्मबुद्धिको छोड़; और 'मैं ब्रह्म हूँ' इस शुद्ध ब्रह्माकार बुद्धिसे अखण्ड बोधस्वरूप अपने आत्माको जान।

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाभित-
स्तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम्।
यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥९६॥

जिस प्रकार मृत्तिकाके कार्य घट आदि हर तरहसे मृत्तिकाही हैं, उसी प्रकार सत्‌से उत्पन्न हुआ यह सत्स्वरूप सम्पूर्ण जगत् सन्मात्र ही है। क्योंकि सत् से परे और कुछ भी नहीं है तथा वही सत्य-अबाधित और स्वयम् आत्मा ही है, इसलिये जो शान्त, निर्मल और अद्वितीय परब्रह्म है वह तू है।

जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं नामरूपगुणदोषवर्जितम्।
देशकालविषयातिवर्ति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥९७॥

जो जाति, नीति, कुल और गोत्रसे अतीत है; नाम, रूप, गुण और दोषसे रहित है तथा देश, काल और वस्तुसे भी पृथक् है तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी अपने अन्तःकरणमें दृढ़ भावना करो।

यत्परं सकलवागगोचरं गोचरं विमलबोधचक्षुषः ।
शुद्धचिद्घनमनादिवस्तु यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥९८॥

जो प्रकृतिसे परे और वाणीका अविषय है, निर्मल ज्ञानचक्षुओंसे जाना जा सकता है तथा शुद्ध चिद्घन अनादि वस्तु है, तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी अपने अन्तःकरणमें दृढ़ भावना करो ।

अहंममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि ।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया ॥९९॥

देह-इन्द्रिय आदि अनात्म-वस्तुओंमें जीवका जो अहं अथवा ममभाव है यही अध्यास है । विद्वान्‌को आत्मनिष्ठाद्वारा इसे दूर कर देना चाहिये ।

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासनाः ।
निःशेषमोक्षे सति वासनानामात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ॥१००॥

मन जैसे-जैसे अन्तर्मुख होता जाता है, वैसे-वैसे ही वह बाह्य वासनाओंको छोड़ता जाता है । जिस समय वासनाओंसे पूर्णतया छुटकारा हो जाता है, उस समय आत्माका प्रतिबन्धशून्य अनुभव होने लगता है ।

नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यतद्व्यावृत्तिपूर्वकम् ।
वासनावेगतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥१०१॥

मैं जीव नहीं हूँ, परब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपनेमें जीवभावका निषेध करते हुए, वासनात्रयके वेगसे प्राप्त हुए जीवत्वके अध्यासका त्याग करो ।

श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ।
क्वचिदाभासतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥१०२॥

श्रुति, युक्ति और अपने अनुभवसे आत्माकी सर्वात्मताको जानकर कभी भ्रमसे प्राप्त हुए अपने अध्यासका त्याग करो।

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥१०३॥

माता-पिताके मलसे उत्पन्न तथा मल-मांससे भरे हुए इस शरीरको चाण्डालके समान दूरसे ही त्यागकर ब्रह्मभावमें स्थित होकर कृतकृत्य हो जाओ।

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं चिदद्वयानन्दमरूपमक्रियम् ।
तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजैतच्छैलूषवद्वेषमुपात्तमात्मनः ॥१०४॥

जो चेतन, अद्वितीय, आनन्दस्वरूप नीलादिरूपरहित-निष्क्रिय ब्रह्म सत्य-स्वरूप तथा अपना आद्य (पहला-मूल) स्वरूप है, उसको प्राप्त होकर नटके समान धारण किये इस शरीररूपी मिथ्या वेषकी आस्था त्याग दो।

यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहङ्कारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा ॥१०५॥

जबतक इस दुरात्मा अहंकारसे आत्माका सम्बन्ध है तबतक मुक्ति-जैसी विलक्षण बातकी लेशमात्र भी आशा न रखनी चाहिये।

अहङ्कारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः ॥१०६॥

अहंकाररूपी ग्रह (राहु) से मुक्त हो जानेपर चन्द्रमाके समान आत्मा निर्मल, पूर्ण एवं नित्यानन्दरूप स्वयंप्रकाश होकर अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताहङ्कारघोराहिना
संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः ।
विज्ञानाख्यमहासिना द्युतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः ॥१०७॥

ब्रह्मानन्दरूपी परमधनको अहंकाररूप महाभयंकर सर्पने अपने सत्त्व, रज, तमरूप तीन प्रचण्ड मस्तकोंसे लपेटकर छिपा रक्खा है; जब विवेकी पुरुष अनुभव-ज्ञानरूप चमचमाते हुए महान् खड्गसे इन तीनों मस्तकोंको काटकर इस सर्पका नाश कर देता है, तभी वह इस परम आनन्ददायिनी सम्पत्तिको भोग सकता है ।

अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादयमहमस्मीति विन्दते तत्त्वम् ॥१०८॥

अहंकारकी निःशेष निवृत्तिसे उससे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके विकल्पोंका नाश हो जानेपर आत्मतत्त्वका विवेक हो जानेसे 'यह आत्मा ही मैं हूँ' ऐसा तत्त्व-बोध प्राप्त होता है ।

सदैकरूपस्य चिदात्मनो विभोरानन्दमूर्तेरनवद्यकीर्तेः ।
नैवान्यथा क्काप्यविकारिणस्ते विनाहमध्यासममुष्य संसृतिः ॥१०९॥

इस अहंकाररूप अध्यासके बिना तुझ सर्वदा एकरूप, चिदात्मा, व्यापक, आनन्दस्वरूप, पवित्रकीर्ति और अविकारी आत्माको और

किसी प्रकार संसार-बन्धनकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम्।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम्॥११०॥

इसलिये हे विद्वन्! भोजन करनेवाले पुरुषके गलेमें काँटेके समान खटकनेवाले इस अहंकाररूप अपने शत्रुको विज्ञानरूप महाखड्गसे भली प्रकार छेदनकर आत्म-साम्राज्य-सुखका यथेष्ट भोग करो।

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः॥१११॥

ब्रह्मविचारमें कभी प्रमाद (असावधानी) न करना चाहिये, क्योंकि-ब्रह्माजीके पुत्र (भगवान् सनत्कुमारजी) ने 'प्रमाद मृत्यु है'—ऐसा कहा है।

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा॥११२॥

विचारवान् पुरुषके लिये अपने स्वरूपानुसन्धानसे प्रमाद करनेसे बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है, क्योंकि-इसीसे मोह होता है और मोहसे अहंकार, अहंकारसे बन्धन तथा बन्धनसे क्लेशकी प्राप्ति होती है।

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम्॥११३॥

जिस प्रकार कुलटा स्त्री अपने प्रेमी जार-पुरुषको उसकी बुद्धि बिगाड़कर पागल बना देती है उसी प्रकार विद्वान् पुरुषको

भी विषयोंमें प्रवृत्त होता देखकर आत्मविस्मृति बुद्धिदोषोंसे विक्षिप्त कर देती है ।

लक्ष्यच्युतं सद्यदि चित्तमीषद्बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा ।११४।

जैसे असावधानतावश (हाथसे छूटकर) सीढ़ियोंपर गिरी हुई खेलकी गेंद एक सीढ़ीसे दूसरी सीढ़ीपर गिरती हुई नीचे चली जाती है वैसे ही यदि चित्त अपने लक्ष्य (ब्रह्म) से हटकर थोड़ा-सा भी बहिर्मुख हो जाता है तो फिर बराबर नीचेहीकी ओर गिरता जाता है ।

अतः प्रमादान्न परोऽस्ति मृत्युर्विवेकिनो ब्रह्मविदः समाधौ ।
समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक् समाहितात्मा भव सावधानः ।।११५।।

इसलिये विवेकी और ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लिये समाधिमें प्रमाद करनेसे बढ़कर और कोई मृत्यु नहीं है । समाहित पुरुष ही पूर्ण आत्म-सिद्धि प्राप्त कर सकता है; इसलिये सावधानतापूर्वक चित्तको पूर्ण-ब्रह्ममें समाहित (स्थिर) करो ।

यदा कदा वापि विपश्चिदेष ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम् ।
पश्यत्यथामुष्य भयं तदैव यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ।।११६।।

जब कभी यह विद्वान् अनन्त ब्रह्ममें अणुमात्र भी भेद-दृष्टि करता है तभी इसको भयकी प्राप्ति होती हैं, क्योंकि स्वरूपके प्रमादसे ही अखण्ड आत्मामें भेदकी प्रतीति हुई है ।

श्रुतिस्मृतिन्यायशतैर्निषिद्धे दृश्येऽत्र यः स्वात्ममतिं करोति ।
उपैति दुःखोपरि दुःखजातं निषिद्धकर्ता स मलिम्लुचो यथा ॥११७॥

श्रुति, स्मृति और सैकड़ों युक्तियोंसे निषिद्ध किये हुए इस दृश्य (देहादि) में जो आत्मबुद्धि करता है वह निषिद्ध कर्म करनेवाले चोरके समान दुःखपर दुःख भोगता है।

सत्याभिसन्धानरतो विमुक्तो महत्त्वमात्मीयमुपैति नित्यम् ।
मिथ्याभिसन्धानरतस्तु नश्येद् दृष्टं तदेतद्यदचोरचोरयोः ॥११८॥

जो अद्वितीय ब्रह्मरूप सत्य पदार्थकी खोज करता है वही मुक्त होकर अपने नित्य महत्त्वको प्राप्त करता है और जो मिथ्या दृश्य पदार्थोंके पीछे पड़ा रहता है वह नष्ट हो जाता है; ऐसा ही साधु और चोरके विषयमें देखा भी गया है।

यतिरसदनुसन्धिं बन्धहेतुं विहाय
स्वयमयमहमस्मीत्यात्मदृष्ट्यैव तिष्ठेत् ।
सुखयति ननु निष्ठा ब्रह्मणि स्वानुभूत्या
हरति परमविद्याकार्यदुःखं प्रतीतम् ॥११९॥

यतिको चाहिये कि-वह बन्धनका कारण असत्-पदार्थोंका चिन्तन छोड़कर 'यह साक्षात् ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसी आत्मदृष्टिमें ही स्थिर होकर रहे । अपने अनुभवसे उत्पन्न हुई ब्रह्मनिष्ठा ही अविद्याके कार्य-भूत इस प्रतीयमान प्रपञ्चके दुःखको दूर करके परम सुख देती है।

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी ।
जानन्हि कुर्यादसतोऽवलम्बं स्वपातहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः ॥१२०॥

सत्-असत् वस्तुका विवेकी, श्रुतिको प्रामाणिक माननेवाला परमार्थ तत्त्वका ज्ञाता ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो मुक्तिकी इच्छा रखकर भी जान-बूझकर बालकके समान अपने पतनके हेतु असत् पदार्थोंका ग्रहण करेगा।

देहादिसंसक्तिमतो न मुक्ति-र्मुक्तस्य देहाद्यभिमत्यभावः।
सुप्तस्य नो जागरणं न जाग्रतः स्वप्नस्तयोर्भिन्नगुणाश्रयत्वात् ॥१२१॥

जिसकी देह आदि अनात्मवस्तुओंमें आसक्ति है उसकी मुक्ति नहीं हो सकती और जो मुक्त हो गया है उसका देहादिमें अभिमान नहीं हो सकता। जैसे सोये हुए पुरुषको जागृतिका अनुभव नहीं हो सकता। और जाग्रत् पुरुषको स्वप्नका अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि-ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न गुणोंके आश्रय रहती हैं।

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजङ्गमेषु ज्ञानात्मनाधारतया विलोक्य।
त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः पूर्णात्मना यः स्थित एष मुक्तः ॥१२२॥

जो समस्त स्थावर-जंगम पदार्थोंके भीतर और बाहर अपनेको ज्ञानस्वरूपसे उनका आधारभूत देखकर समस्त उपाधियोंको छोड़-कर अखण्ड-परिपूर्णरूपसे स्थित रहता है, वहीं मुक्त हैं।

सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित्।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ॥१२३॥

संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त होनेमें सर्वात्म-भाव (सबको आत्मारूप देखनेके भाव) से बढ़कर और कोई साधन नहीं है।

निरन्तर आत्मनिष्ठामें स्थित रहनेसे दृश्यका अग्रहण (बाध) होनेपर इस सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है।

दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतो
बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनसस्तत्तत्क्रियां कुर्वतः।
संन्यस्ताखिलधर्मकर्मविषयैर्नित्यात्मनिष्ठापरै-
स्तत्त्वज्ञैः करणीयमात्मनि सदानन्देच्छुभिर्यत्नतः ॥१२४॥

जो लोग देहात्म-बुद्धिसे स्थित रहकर बाह्य पदार्थोंकी मनमें आसक्ति रखकर उन्हींके लिये निरन्तर काममें लगे रहते हैं उनको दृश्यकी अप्रतीति कैसे हो सकती है ? इसलिये नित्यानन्दके इच्छुक तत्त्वज्ञानीको चाहिये कि वह समस्त धर्म, कर्म एवं विषयोंको त्यागकर निरन्तर आत्मनिष्ठामें तत्पर हो अपने आत्मामें प्रतीत होनेवाले इस दृश्य-प्रपञ्चका प्रयत्नपूर्वक बाध करे।

सार्वात्म्यसिद्धये भिक्षोः कृतश्रवणकर्मणः।
समाधिं विदधात्येषा शान्तो दान्त इति श्रुतिः ॥१२५॥

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' (बृह० ४।४।२३) यह श्रुति यतिके लिये वेदान्त-श्रवणके अनन्तर सार्वात्म्यभावकी सिद्धिके लिये समाधिका विधान करती है।

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्
प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे।
प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो
विलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या ॥१२६॥

अद्वितीय और निर्विशेष परमात्मामें बुद्धिके दोषसे 'तू, मैं, यह'—ऐसी कल्पना होती है और वही सम्पूर्ण विकल्प समाधिमें विघ्नरूपसे स्फुरित होता है; किन्तु तत्त्व-वस्तुका यथावत् ग्रहण होनेसे वह सब लीन हो जाता है।

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं
कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम्।
तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ॥१२७॥

योगी पुरुष चित्तकी शान्ति, इन्द्रियनिग्रह, विषयोंसे उपरति और क्षमासे युक्त होकर समाधिका निरन्तर अभ्यास करता हुआ अपने सर्वात्म-भावका अनुभव करता है और उसके द्वारा अविद्या-रूप अन्धकारसे उत्पन्न हुए समस्त विकल्पोंका भलीभाँति ध्वंस करके निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनन्दपूर्वक ब्रह्माकार वृत्तिसे निरन्तर रहता है।

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको ध्यायन्यथालिं ह्यलिभावमृच्छति।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ॥१२८॥

जिस प्रकार अन्य समस्त क्रियाओंकी आसक्तिको छोड़कर केवल भ्रमरका ही ध्यान करते-करते कीड़ा भ्रमररूप हो जाता है उसी प्रकार योगी एकनिष्ठ होकर परमात्मतत्त्वका चिन्तन करते-करते परमात्मभावको ही प्राप्त हो जाता है।

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥१२९॥

परमात्म-तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे स्थूल दृष्टिसे कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये अतिशुद्ध बुद्धिवाले सत्पुरुषोंको उसे समाधिद्वारा अति सूक्ष्मवृत्तिसे जानना चाहिये ।

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ॥१३०॥

जिस प्रकार [अग्निमें] पुटपाक-विधिसे शोधा हुआ सोना सम्पूर्ण मलको त्यागकर अपने स्वाभाविक स्वरूपको प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार मन ध्यानके द्वारा सत्त्व-रज-तमरूप मलको त्यागकर आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है ।

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं पक्वं मनो ब्रह्मणि लीयते यदा ।
तदा समाधिः स विकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः ॥१३१॥

जिस समय रात-दिनके निरन्तर अभ्याससे परिपक्व होकर मन ब्रह्ममें लीन हो जाता है उस समय अद्वितीय ब्रह्मानन्दरसका अनुभव करनेवाली वह निर्विकल्प समाधि स्वयं ही सिद्ध हो जाती है ।

समाधिनानेन समस्तवासना-ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः ।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥१३२॥

इस निर्विकल्प-समाधिसे समस्त वासना-ग्रन्थियोंका नाश हो जाता है तथा वासनाओंके नाशसे सम्पूर्ण कर्मोंका भी नाश हो जाता है

और फिर बाहर-भीतर सर्वत्र बिना प्रयत्नके ही निरन्तर सच्चिदानन्द स्वरूपकी स्फूर्ति होने लगती है ।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥१३३॥

वेदान्तके श्रवणमात्रसे उसका मनन करना सौगुना अच्छा है और मननसे भी लाखगुना श्रेयस्कर निदिध्यासन (आत्मभावनाको अपने चित्तमें स्थिर करना) है । तथा निदिध्यासनसे भी अनन्तगुना निर्विकल्प-समाधिका महत्त्व है [जिससे चित्त फिर आत्मस्वरूपसे चलायमान ही नहीं होता]

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः
संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना ।
तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिन-
स्तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुनेः ॥१३४॥

एकान्तमें रहना इन्द्रिय-दमनका कारण है, इन्द्रिय-दमन चित्तके निरोधका कारण है और चित्त-निरोधसे वासनाका नाश होता है तथा वासनाके नष्ट हो जानेसे योगीको ब्रह्मानन्दरसका अविचल अनुभव होता है; इसलिये मुनिको सदा प्रयत्नपूर्वक चित्तका निरोध ही करना चाहिये । चित्त-निरोध ही योग एवं पुरुषार्थ है ।

देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः ।
यैर्यैर्वृत्तेः समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥१३५॥

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन उपाधियोंमेंसें जिस-

जिसके साथ योगीकी चित्तवृत्तिका संयोग होता है उसी-उसी भावकी प्राप्ति होती है, अर्थात् चित्त-भावना ही सृष्टिकी रचना है ।

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक्सर्वोपरमणं सुखम् ।
संदृश्यते सदानन्दरसानुभवविप्लवः ॥१३६॥

जब उस मुनिका चित्त इन सब उपाधियोंसे निवृत्त हो जाता है तो उसको पूर्ण उपरतिका आनन्द स्पष्टतया प्रतीत होने लगता है जिससे उसके चित्तमें सच्चिदानन्दरसानुभवकी बाढ़ आने लगती है अर्थात् द्वैत-भावनाकी निवृत्तिसे अद्वैतानन्दका आविर्भाव होता है ।

बहिस्तु विषयैः सङ्गं तथान्तरहमादिभिः ।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः ॥१३७॥

इन्द्रियोंका शब्दादि विषयोंके साथ बाह्य संग और अहंकारादिके साथ आन्तरिक संग—इन दोनोंका ब्रह्मनिष्ठ विरक्त पुरुष ही त्याग कर सकता है अर्थात् अविरक्त एवं ब्रह्मनिष्ठारहित त्याग नहीं कर सकता ।

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत् पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति ।१३८।

हे विद्वन्! वैराग्य और बोध इन दोनोंको पक्षीके दोनों पंखोंके समान मोक्षकामी पुरुषके पंख समझो। इन दोनोंमेंसे किसी भी एकके बिना केवल एक ही पंखके द्वारा कोई मुक्तिरूपी महलकी अटारीपर नहीं चढ़ सकता [अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये वैराग्य और बोध दोनोंकी ही आवश्यकता] है ।

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्ति-र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥१३९॥

अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि-लाभ होता है; समाधिस्थ पुरुषको ही दृढ बोध होता है तथा सुदृढ बोधवान् का ही संसार-बन्धन छूटना है और जो संसार-बन्धनसे छूट गया है उसीको नित्यानन्दका अनुभव होता है ।

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-
स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्यसाम्राज्यधुक् ।
एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ॥१४०॥

जितेन्द्रिय पुरुषके लिये वैराग्यसे बढ़कर सुखदायक मुझे और कुछ भी प्रतीत नहीं होता और वह यदि कहीं शुद्ध आत्म-ज्ञानके सहित हो तब तो स्वर्गीय साम्राज्यके सुखका देनेवाला होता है। यह मुक्तिरूप कामिनीका निरन्तर खुला हुआ द्वार है; इसलिये हे वत्स! तुम अपने कल्याणके लिये सब ओरसे इच्छारहित होकर सदा सच्चिदानन्द ब्रह्ममें ही अपनी बुद्धि स्थिर करो ।

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः सृति-
स्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चातिदूरात्क्रियाः ।
देहादावसति त्यजात्मधिषणां प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि
त्वं द्रष्टास्यमलोऽसि निर्द्वयपरं ब्रह्मासि यद्वस्तुतः ॥१४१॥

विषके समान विषम विषयोंकी आशाको छोड़ दो, क्योंकि यह [स्वरूपविस्मृतिरूप] मृत्युका मार्ग है, तथा जाति, कुल और आश्रम आदिका अभिमान छोड़कर दूरसे ही कर्मोंको नमस्कार कर दो। देह आदि असत् पदार्थोंमें आत्मबुद्धिको छोड़ो और आत्मामें अहंबुद्धि करो, क्योंकि तुम तो वास्तवमें इन सबके द्रष्टा और मल तथा द्वैतसे रहित जो परब्रह्म है, वही हो।

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम्।
ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिशं
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः ॥१४२॥

चित्तको अपने लक्ष्य ब्रह्ममें दृढ़तापूर्वक स्थिरकर बाह्य इन्द्रियोंको [उनके विषयोंसे हटाकर] अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर करो; शरीरको निश्चल रखो और उसकी स्थितिकी ओर ध्यान मत दो। इस प्रकार ब्रह्म और आत्माकी एकता करके तन्मयभावसे अखण्ड-वृत्तिसे अहर्निश आनन्दपूर्वक सदा सर्वत्र ब्रह्मानन्दरसका पान करो और द्वैत-प्रपञ्चकी भ्रान्तियुक्त थोथी बातोंसे क्या लेना है?

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम्।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥१४३॥

दुःखके कारण और मोहरूप अनात्म-चिन्तनको छोड़कर आनन्दस्वरूप आत्माका चिन्तन करो, जो साक्षात् मुक्तिका कारण है।

एष स्वयंज्योतिरशेषसाक्षी विज्ञानकोशे विलसत्यजस्रम् ।
लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षण-मखण्डवृत्त्यात्मतयानुभावय ॥१४४॥

यह जो स्वयंप्रकाश सबका साक्षी निरन्तर विज्ञानमय कोशमें विराजमान है, समस्त अनित्य पदार्थोंसे पृथक् इस परमात्माको ही अपना लक्ष्य बनाकर इसीका [तैलधारावत्] अखण्ड-वृत्तिसे, आत्म-भावसे चिन्तन करो।

विशुद्धमन्तःकरणं स्वरूपे निवेश्य साक्षिण्यवबोधमात्रे ।
शनैः शनैर्निश्चलतामुपायन् पूर्णं स्वमेवानुविलोकयेत्ततः ॥१४५॥

सबके साक्षी और ज्ञानस्वरूप आत्मामें अपने शुद्ध चित्तको लगाकर धीरे-धीरे निश्चलता प्राप्त करता हुआ योगी अन्तमें सर्वत्र अपनेहीको परिपूर्ण देखे।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादिभिः स्वाज्ञानक्लृप्तैरखिलैरुपाधिभिः ।
विमुक्तमात्मानमखण्डरूपं पूर्णं महाकाशमिवावलोकयेत् ॥१४६॥

अपने अज्ञानसे कल्पित देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहंकार आदि समस्त उपाधियोंसे रहित अखण्ड आत्माको महाकाशकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण देखे।

घटकलशकुशूलसूचिमुख्यै-र्गगनमुपाधिशतैर्विमुक्तमेकम् ।
भवति न विविधं तथैव शुद्धं परमहमादिविमुक्तमेकमेव ॥१४७॥

जिस प्रकार आकाश घट, कलश, कुशूल [अनाजका कोठा], सूची [सूई] आदि सैकड़ों उपाधियोंसे रहित एक ही रहता है; नाना

उपाधियोंके कारण वह नाना नहीं हो जाता। उसी प्रकार अहंकारादि उपाधियोंसे रहित एक ही शुद्ध परमात्मा है।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥१४८॥

ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब (तृण)पर्यन्त समस्त उपाधियाँ मिथ्या हैं इसलिये अपनेको सदा एकरूपसे स्थित परिपूर्ण आत्म-स्वरूप देखना चाहिये।

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं यद्विवेके तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम्।
भ्रान्तेर्नाशे भ्रान्तिदृष्टाहितत्त्वं रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥१४९॥

जिस वस्तुकी जहाँ (जिस आधारमें) भ्रमसे कल्पना हो जाती है उस आधारका ठीक-ठीक ज्ञान हो जानेपर वह कल्पित वस्तु तद्रूप ही निश्चित होती है, उससे पृथक् उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। जिस प्रकार भ्रान्तिके नष्ट होनेपर रज्जुमें भ्रान्तिवश प्रतीत होनेवाला सर्प रज्जु-रूप ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही अज्ञानके नष्ट होनेपर सम्पूर्ण विश्व आत्म-स्वरूप ही जान पड़ता है।

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥१५०॥

आप ही ब्रह्मा है, आप ही विष्णु है, आप ही इन्द्र है, आप ही शिव है और आप ही यह सारा विश्व है, अपनेसे भिन्न और कुछ भी नहीं है।

अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयं च स्वयं पुरस्तात्स्वयमेव पश्चात् ।
स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥१५१॥

आप ही भीतर है, आप ही बाहर है; आप ही आगे है, आप ही पीछे है; आप ही दायें है, आप ही बायें है; और आप ही ऊपर है, आप ही नीचे है ।

तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादि सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा ।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत् सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ॥१५२॥

जैसे तरंग, फेन, भँवर और बुद्बुद आदि स्वरूपसे सब जल ही हैं, वैसे ही देहसे लेकर अहंकारपर्यन्त यह सारा विश्व भी अखण्ड शुद्ध चैतन्य आत्मा ही है ।

सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः
सतोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः ।
पृथक् किं मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं
वदत्येष भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया ॥१५३॥

मन और वाणीसे प्रतीत होनेवाला यह सारा जगत् सत्स्वरूप ही है; जो महापुरुष प्रकृतिसे अतीत आत्म-स्वरूपमें स्थित है उसकी दृष्टिमें सत्से पृथक् और कुछ भी नहीं है । मिट्टीसे पृथक् घट, कलश और कुम्भ आदि क्या हैं ? मनुष्य मायामयी मदिरासे उन्मत होकर ही 'मै, तू'-ऐसी भेदबुद्धियुक्त वाणी बोलता है ।

क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः ।
ब्रवीति द्वैतराहित्यं मिथ्याध्यासनिवृत्तये ॥१५४॥

कार्यरूप द्वैतका उपसंहार करते हुए 'जहाँ और कुछ नहीं देखता' ऐसी अद्वैतपरक श्रुति ('यत्र नान्यत्पश्यति' छा० ७ । २४ । १) मिथ्या अध्यासकी निवृत्तिके लिये वारंवार द्वैतका अभाव (मिथ्यात्व) बतलाती है ।

आकाशवन्निर्मलनिर्विकल्प-निःसीमनिष्पन्दननिर्विकारम् ।
अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमद्वयं स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ॥१५५॥

जो परब्रह्म स्वयं आकाशके समान निर्मल, निर्विकल्प, निःसीम, निश्चल, निर्विकार, बाहर-भीतर सब ओरसे द्वैत-प्रपञ्च शून्य, अनन्य और अद्वितीय है वह क्या ज्ञानका विषय हो सकता है ?

वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं
ब्रह्मैतज्जगदाततं नु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतेः ।
ब्रह्मैवाहमिति प्रबुद्धमतयः सन्त्यक्तबाह्याः स्फुटं
ब्रह्मीभूय वसन्ति सन्ततचिदानन्दात्मनैव ध्रुवम् ॥१५६॥

इस विषयमें और अधिक क्या कहना है ? जीव तो स्वयं ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् रूपसे फैला हुआ है क्योंकि श्रुति भी कहती है कि-ब्रह्म अद्वितीय है । और यह निश्चय है, जिनको यह दृढ़ बोध हुआ है कि-मैं ब्रह्म ही हूँ वे बाह्य विषयोंको सर्वथा त्यागकर ब्रह्मभावसे सदा सच्चिदानन्दस्वरूपसे हीं स्थित रहते हैं ।

जहि मलमयकोशेऽहंधियोत्थापिताशां
प्रसभमनिलकल्पे लिङ्गदेहेऽपि पश्चात् ।

निगमगदितकीर्तिं नित्यमानन्दमूर्तिं
स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ ॥१५७॥

इस मलमय अन्न-कोशमें अहंबुद्धिसे हुई आसक्तिको छोड़ो और इसके पश्चात् वायु-सदृश लिङ्गदेहमें भी उसका दृढ़तापूर्वक त्याग करो, तथा जिसकी कीर्तिका वेद बखान करते हैं उस आनन्दस्वरूप ब्रह्मको ही अपना स्वरूप जानकर सदा ब्रह्मरूपसे ही स्थिर होकर रहो।

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः ।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥१५८॥

श्रुति भी यही कहती है कि-मनुष्य जबतक इस मृतकतुल्य देहमें आसक्त रहता है तबतक वह अत्यन्त अपवित्र रहता है और जन्म, मरण तथा व्याधियोंका आश्रय बना रहकर उसको दूसरोंसे अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है। किन्तु जब वह अपने कल्याण-स्वरूप, अचल और शुद्ध आत्माका साक्षात्कार कर लेता है तो उन समस्त क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है।

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥१५९॥

अपने आत्मामें आरोपित समस्त कल्पित वस्तुओंका निरास कर देनेपर मनुष्य स्वयं अद्वितीय, अक्रिय और पूर्ण परब्रह्म ही है।

समाहितायां सति चित्तवृत्तौ परात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते ततः ॥१६०॥

निर्विकल्प परमात्मा परब्रह्ममें चित्तवृत्तिके स्थिर हो जानेपर यह दृश्य विकल्प कहीं भी दिखायी नहीं देता । उस समय यह प्रपञ्च केवल वाचारम्भण (वाणीका बकवाद) मात्र ही रह जाता है ।

कल्पार्णव इवात्यन्तपरिपूर्णैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥१६१॥

प्रलयकालके समुद्रके समान अत्यन्त परिपूर्ण एक ब्रह्म पदार्थमें जो निर्विकार, निराकार और निर्विशेष है, उसमें भला भेद कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

तेजसीव तमो यत्र प्रलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥१६२॥

प्रकाशमें जैसे अन्धकार लीन हो जाता है वैसे ही जिसमें भ्रमका कारण अज्ञान लीन हो जाता हैउस अद्वितीय और निर्विशेष परमतत्त्वमें भला भेद कहाँसे हो सकता है ?

एकात्मके परे तत्त्वे भेदवार्ता कथं भवेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ॥१६३॥

एकात्मक अद्वितीय परमतत्त्वमें भला भेदकी बात ही क्या हो सकती है ? केवल सुख-स्वरूपा सुषुप्तिमें किसने विभिन्नता देखी है ?

नह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात् सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे नह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥१६४॥

परमतत्त्वके जान लेनेपर सत्स्वरूप निर्विकल्प परब्रह्ममें विश्वका कहीं पता भी नहीं चलता; तीनों कालमें भी कभी किसीने रज्जुमें सर्प और मृगतृष्णामें जलकी बूँद वस्तुतः नहीं देखी है।

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥१६५॥

यह विकल्प-द्वैत-प्रपञ्च चित्त-मूलक है, चित्तका अभाव होनेपर इसका कहीं नाम-निशान भी नहीं रहता। इसलिये चित्तको प्रत्यक् चैतन्य-स्वरूप आत्मामें स्थिर करो।

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम्।
निरवधि गगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥१६६॥

किसी नित्यबोध-स्वरूप, केवलानन्दरूप, उपमारहित, कालातीत, नित्यमुक्त, निश्चेष्ट, आकाशके समान निःसीम, कलारहित, निर्विकल्प पूर्ण ब्रह्मका विद्वान् समाधि-अवस्थामें अपने अतःकरणमें साक्षात् अनुभव करते हैं।

अजरममरमस्ताभासवस्तुस्वरूपं
स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम्।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥१६७॥

अजर, अमर, आभासशून्य, वस्तुस्वरूप, निश्चल जल-राशिके समान, नाम-रूपसे रहित, गुणोंके विकारसे शून्य, नित्य, शान्त-स्वरूप और अद्वितीय पूर्ण ब्रह्मका विद्वान् समाधि-अवस्थामें हृदयमें साक्षात् अनुभव करते हैं।

समाहितान्तःकरणः स्वरूपे विलोकयात्मानमखण्डवैभवम्।
विच्छिन्धि बन्धं भवगन्धगन्धितं यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ॥१६८॥

अपने स्वरूपमें चित्तको स्थिर करके अखण्ड ऐश्वर्य-सम्पन्न आत्माका साक्षात्कार करो, संसार-गन्धसे युक्त बन्धनको काट डालो यत्नपूर्वक अपने मनुष्य-जन्मको सफल करो।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम्।
भावयात्मानमात्मस्थं न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥१६९॥

समस्त उपाधियोंसे रहित अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप अपने अन्तःकरणमें स्थित आत्माका चिन्तन करते रहो; इससे तुम फिर संसार-चक्रमें नहीं पड़ोगे।

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं प्रयातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक्।
न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्ता-नन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ॥१७०॥

जैसे गौ अपने गलेमें पड़ी हुई मालाके रहने अथवा गिरनेकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देती, इसी प्रकार प्रारब्धकी डोरीमें पिरोया हुआ यह शरीर रहे अथवा जाय, जिसकी चित्तवृत्ति आनन्दरूप ब्रह्ममें लीन हो गयी है वह तत्त्ववेत्ता फिर इसकी ओर नहीं देखता।

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥१७१॥

वैराग्यका फल बोध है और बोधका फल उपरति (विषयोंसे उदासीनता) है तथा उपरतिका फल यही है कि आत्मानन्दके अनुभवसे चित्त शान्त राग-द्वेषरहित हो जाय ।

विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः प्रवृत्तिरज्ञानफलं तदीक्षितम् ।
तज्ज्ञाज्ञयोर्यन्मृगतृष्णिकादौ नो चेद्विदो दृष्टफलं किमस्मात् ॥१७२॥

विद्याका फल असत् से निवृत्त होना और अविद्याका उसमें प्रवृत्त होना है। ये दोनों फल ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषोंकी मृगतृष्णा आदिकी प्रतीतिमें उसे जानने या न जाननेवालोंमें देखे गये हैं। नहीं तो [यदि मूढ पुरुषके समान विद्वान् की भी असत् पदार्थोंमें प्रवृत्ति बनी रही तो] विद्याका प्रत्यक्ष फल ही क्या हुआ ?

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य परोऽवधिः ।
अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमोऽवधिः ।
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा ॥१७३॥

भोग्य वस्तुओंमें वासनाका उदय न होना ही वैराग्यकी चरम अवधि है, चित्तमें अहंकारका सर्वथा उदय न होना ही बोधकी चरम सीमा है और लीन हुई वृत्तियोंका पुनः उत्पन्न न होना—यह उपरामताकी सीमा है ।

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थधी-
रन्यावेदितभोग्यभोगकलनो निद्रालुवद्बालवत् ।

स्वप्नालोकितलोकवज्जगदिदं पश्यन्क्वचिल्लब्धधी-
रास्ते कश्चिदनन्तपुण्यफलभुग्धन्यः स मान्यो भुवि ॥१७४॥

निरन्तर ब्रह्माकार-वृत्तिसे स्थित रहनेके कारण जिसकी बुद्धि बाह्य विषयोंमेंसे निकल गयी है और जो निद्रालु अथवा बालकके समान, दूसरोंके निवेदन किये हुए ही भोग्य पदार्थोंका सेवन करता है तथा कभी विषयोंमें बुद्धि जानेपर जो इस संसारको स्वप्न-प्रपञ्चके समान मिथ्या देखता है, वह अनन्त पुण्योंके फलका भोगनेवाला कोई ज्ञानी महापुरुष इस पृथिवीतलमें धन्य है और सबका माननीय है-वन्दनीय है।

यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१७५॥

जिसकी प्रज्ञा स्थिर है, जो निरन्तर आत्मानन्दका अनुभव करता है और प्रपञ्चको भूला-सा रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन्स्वभावेन विलक्षणे ।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥१७६॥

अपने आत्मस्वरूपसे सर्वथा पृथक् इस गुणदोषमय संसारमें सर्वत्र समदर्शी होना जीवन्मुक्तका लक्षण है।

इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि ।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥१७७॥

इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें समानभाव रखनेके कारण

दोनों ही अवस्थाओंमें चित्तमें कोई भी विकार न होना जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है।

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१७८॥

जिसका देह और इन्द्रिय आदिमें अहंभाव तथा अन्य वस्तुओंमें इदं (यह-मेरा) भाव कभी नहीं होता वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है।

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१७९॥

जो अपनी तत्त्वावगाहिनी बुद्धिसे आत्मा तथा ब्रह्म और ब्रह्म तथा संसारमें कोई भेद नहीं देखता वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है।

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥१८०॥

ब्रह्मतत्त्वके जान लेनेपर विद्वान्‌को पूर्ववत् संसारकी आस्था नहींरहती और यदि फिर भी संसारकी आस्था बनी रही तो समझना चाहिये कि वह तो संसारी ही है उसे ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान ही नहीं हुआ।

प्राचीनवासनावेगादसौ संसरतीति चेत्।
न सदेकत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना ॥१८१॥

यदि कहो कि-पूर्ववासनाकी प्रबलतासे फिर भी इसकी संसारमें प्रवृत्ति रह सकती है, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके एक-

त्वज्ञानसे [विषयका बाध हो जानेके कारण] इसकी वासना मन्द हो जाती है अर्थात् प्रवृत्ति-प्रयोजिका प्रबल वासना नहीं रहती ।

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि ।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ॥१८२॥

जिस प्रकार अत्यन्त कामी पुरुषकी भी कामवृत्ति माताको देखकर कुण्ठित हो जाती है उसी प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मको जान लेनेपर विद्वान् की संसारमें प्रवृत्ति नहीं होती ।

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम् ।
सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥१८३॥

जाग जानेपर जैसे स्वप्नावस्थाके कर्म लीन हो जाते हैं वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होते ही करोड़ों कल्पोंके सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं विद्वान् निष्कर्म एवं निर्मल हो जाता है ।

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥१८४॥

(श्रुति कहती है—) वास्तवमें सर्वत्र परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रमेय और अविकारी एक अद्वितीय ब्रह्म ही है; उसमें और कोई नाना पदार्थ नहीं है ।

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥१८५॥

जो घनीभूत सत्, चित् और आनन्द हैं; ऐसा एक नित्य,

अक्रिय और अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य वस्तु है; उसमें कोई नाना पदार्थ नहीं है अर्थात् वह द्वैत-प्रपञ्चसे रहित है।

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥१८६॥

जो गुण और कलासे रहित है, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निर्मल है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है; उसमें नाना पदार्थ कुछ भी नहीं है।

निरस्तरागा निरपास्तभोगाः शान्ताः सुदान्ता यतयो महान्तः।
विज्ञाय तत्त्वं परमेतदन्ते प्राप्ताः परां निर्वृतिमात्मयोगात् ॥१८७॥

जिनका किसी भी वस्तुमें राग नहीं है और विषय-भोगलालसाका भी सर्वथा अन्त हो गया है तथा जिनका चित्त शान्त एवं इन्द्रियाँ संयत हैं, वे महात्मा संन्यासीजन ही इस परम तत्त्वको जानकर अन्तमें इस अध्यात्मयोगके द्वारा परम शान्तिको प्राप्त हुए हैं।

स्वस्याविद्याबन्धसम्बन्धमोक्षात्सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ।
शास्त्रं युक्तिर्देशिकोक्तिः प्रमाणं चान्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम्।१८८।

अपने अज्ञानरूप बन्धनका संसर्ग छूट जानेसे जो सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्ति होती है—उसमें शास्त्र, युक्ति, गुरु-वाक्य और अन्तःकरणसे सिद्ध होनेवाला अपना अनुभव प्रमाण है।

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥१८९॥

वेदान्तका सिद्धान्त तो यही कहता है कि जीव और सम्पूर्ण

जगत् केवल ब्रह्म ही है और उस अद्वितीय ब्रह्ममें निरन्तर अखण्ड-रूपसे स्थित रहना ही मोक्ष है। ब्रह्म अद्वितीय है—इस विषयमें श्रुतियाँ प्रमाण हैं। अर्थात् अद्वैत ब्रह्म एकमात्र श्रुतिप्रमाणक है।

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते
स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम् ।
अम्भोराशिविशीर्णवार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो
यस्यांशांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निर्वृतम् ॥१९०॥

जलराशि (समुद्र) में पड़कर गले हुए वर्षाकालिक ओलोंकी अवस्थाको प्राप्त हुआ मेरा मन जिस आनन्दामृतसमुद्रके एक अंशके भी अंशमें लीन होकर अब अति आनन्दरूपसे स्थित हो गया है, उस आत्मानन्दरूप अमृतप्रवाहसे परिपूर्ण परब्रह्मसमुद्रका वैभव वाणीसे नहीं कहा जा सकता और मनसे मनन नहीं किया जा सकता।

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥१९१॥

यह संसार कहाँ चला गया? उसे कौन ले गया? यह कहाँ लीन हो गया? अहो? अहो! बड़ा आश्चर्य है जिस संसारको मैं अभी देख रहा था वह अब कहीं दिखायी नहीं देता।

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ॥१९२॥

इस अखण्ड आनन्दामृतपूर्ण ब्रह्म-समुद्रमें कौन वस्तु त्याज्य है? कौन ग्राह्य है? कौन अन्य है? और कौन विलक्षण है?

नकिञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥१९३॥

अब मुझे यहाँ न कुछ दिखायी देता है, न सुनायी देता है और न मैं कुछ जानता ही हूँ। मैं तो अपने नित्यानन्दस्वरूप आत्मामें स्थित होकर अपनी पहली अज्ञानविशिष्टा दुःखमयी अवस्थासे सर्वथा विलक्षण ज्ञानमयी आनन्दमयी अवस्थावाला हो गया हूँ।

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय ।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे भूम्ने सदापारदयाम्बुधाम्ने ॥१९४॥

यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजश्रमः ।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ॥१९५॥

जिनके कृपाकटाक्षरूप चन्द्रकी स्निग्ध चन्द्रिकाके संसर्गसे संसार-ताप-जन्य श्रमके दूर हो जानेसे मैंने क्षणभरमें अखण्ड ऐश्वर्य और आनन्दमय अक्षय आत्मपद प्राप्त किया है, उन संगरहित, संतशिरोमणि, नित्य-अद्वितीय-आनन्दरसस्वरूप, अति महान् और नित्य-अपार-दयासागर महात्मा गुरुदेवको वारंवार नमस्कार है।

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं तदनुग्रहात् ॥१९६॥

उन श्रीगुरुदेवकी कृपासे आज मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ संसार-बन्धनसे रहित हूँ तथा नित्यानन्दस्वरूप और सर्वत्र परिपूर्ण हूँ।

निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इतिकल्पनादूरम् ।
नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥१९७॥

जो उपमारहित अनादितत्त्व 'तू, मैं, यह, वह' आदिकी कल्पनासे अत्यन्त दूर है वह नित्यानन्दैकरसरूप, सत्य और अद्वितीय ब्रह्म ही मैं हूँ।

सर्वेषु भूतेष्वहमेव संस्थितो ज्ञानात्मनान्तर्बहिराश्रयः सन्।
भोक्ता च भोग्यं स्वयमेव सर्वं यद्यत्पृथग्दृष्टमिदन्तया पुरा ॥१९८॥

ज्ञानस्वरूपसे सबका आश्रय होकर समस्त प्राणियोंके बाहर और भीतर मैं ही स्थित हूँ तथा पहले जो-जो पदार्थ इदंवृत्तिद्वारा भिन्न-भिन्न देखे गये थे वह भोक्ता और भोग्य सब कुछ स्वयं मैं ही हूँ।

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥१९९॥

मुझ अखण्ड आनन्द-समुद्रमें विश्वरूपी नाना तरंगें माया-रूपी वायुके वेगसे उठती और लीन होती रहती हैं।

आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्कदापि मूढैर्मतिदोषदूषितैः।
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं मरीचिकावारिमहाप्रवाहः ॥२००॥

बुद्धि-दोषसे दूषित अज्ञानियोंद्वारा आरोपित की हुई वस्तु अपने आश्रयको दूषित नहीं कर सकती; जैसे मृगतृष्णाका महान् जल-प्रवाह अपने आश्रय ऊषर भूमि-खण्डको [तनिक भी] गीला नहीं कर सकता तद्वत् आरोपित द्वैत-प्रपञ्च पारमार्थिक-सर्वाधिष्ठान अद्वैत तत्त्वको दूषित नहीं कर सकता।

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम्।
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥२०१॥

जो सबका आधार, सब वस्तुओंका प्रकाशक, सर्वरूप, सर्वव्यापी, सबसे रहित, नित्य, शुद्ध, निश्चल और विकल्परहित अद्वैत ब्रह्म है वही मैं हूँ ।

यत्प्रत्यस्ताशेषमायाविशेषं प्रत्यग्रूपं प्रत्ययागम्यमानम् ।
सत्यज्ञानानन्तमानन्दरूपं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥२०२॥

जो समस्त मायिक-काल्पनिक भेदोंसे रहित, अन्तरात्मारूप और साक्षात् प्रतीतिका अविषय तथा अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैत ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥२०३॥

मैं क्रियारहित, विकाररहित, कलारहित और निराकार हूँ तथा निर्विकल्प, नित्य, निरालम्ब और अद्वितीय हूँ ।

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहमानन्दोऽहं निरन्तरः ॥२०४॥

मैं सबका आत्मा, सर्वरूप, सबसे अतीत और अद्वितीय हूँ; तथा केवल अखण्डज्ञानस्वरूप और निरन्तर आनन्दरूप हूँ ।

स्वाराज्यसाम्राज्यविभूतिरेषा भवत्कृपाश्रीमहिमप्रसादात् ।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥२०५॥

हे गुरो ! आपकी कृपा और महिमाके प्रसादसे मुझे यह स्वाराज्य-साम्राज्यकी विभूति प्राप्त हुई है । आप महात्मा श्रीगुरुदेव को मेरा वारंवार नमस्कार है नमस्कार है ।

महास्वप्ने मायाकृतजनिजरामृत्युगहने
भ्रमन्तं क्लिश्यन्तं बहुलतरतापैरनुदिनम् ।
अहङ्कारव्याघ्रव्यथितमिममत्यन्तकृपया
प्रबोध्य प्रस्वापात्परमवितवान्मामसि गुरो ! ॥२०६॥

मैं मायासे प्रतीत होनेवाले जन्म, जरा और मृत्युके कारण अत्यन्त भयानक महास्वप्नमें भटकता हुआ दिन-दिन नाना प्रकारके तापोंसे सन्तप्त हो रहा था, हे गुरो ! अहंकाररूपी व्याघ्रसे अत्यन्त व्यथित मुझ दीनको निद्रासे जगाकर आपने बड़ी कृपा करके मेरी बहुत बड़ी रक्षा की है ।

नमस्तस्मै सदेकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ! ते ॥२०७॥

हे गुरुराज ! आपके किसी उस महान् तेजको नमस्कार है, जो सत्स्वरूप और एकरूप होकर भी विश्वरूपसे विराजमान है ।

ब्रह्मप्रत्ययसन्ततिर्जगदतो ब्रह्मैव सत्सर्वतः
पश्याध्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि ।
रूपादन्यदवेक्षितुं किमभितश्चक्षुष्मतां विद्यते
तद्वद्ब्रह्मविदः सतः किमपरं बुद्धेर्विहारास्पदम् ॥२०८॥

गुरु—हे वत्स ! अपनी आध्यात्मिक दृष्टिसे शान्तचित्त होकर सब अवस्थाओंमें ऐसा ही देख कि यह संसार. ब्रह्म-प्रतीतिका ही प्रवाह है, इसलिये यह सर्वथा सत्यस्वरूप ब्रह्म ही है । नेत्रयुक्त व्यक्तिको चारों ओर देखनेके लिये रूपके अतिरिक्त और क्या

वस्तु है ? उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीकी बुद्धिका विषय सत्यस्वरूप ब्रह्मसे अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

कस्तां परानन्दरसानुभूतिमुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् ।
चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत् ॥२०९॥

उस परमानन्दरसके अनुभवको छोड़कर अन्य थोथे विषयोंमें कौन बुद्धिमान् रमण करेगा ? अति आनन्ददायक पूर्णचन्द्रके प्रकाशित रहते हुए चित्र-लिखित चन्द्रमाको देखनेकी इच्छा कौन करेगा ?

असत्पदार्थानुभवे न किञ्चिन्न ह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहानिः ।
तदद्वयानन्दरसानुभूत्या तृप्तः सुखं तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥२१०॥

असत् पदार्थोंके अनुभवसे न तो कुछ तृप्ति ही होती है, और न दुःखका नाश ही, अतः इस अद्वयानन्दरसके अनुभवसे तृप्त होकर सत्य आत्म-निष्ठभावसे सुखपूर्वक स्थित हो ।

स्वमेव सर्वथा पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानः कालं नय महामते ! ॥२११॥

हे महाबुद्धे ! सब ओर केवल अपनेको ही देखता हुआ, अपनेको अद्वितीय मानता हुआ और आत्मानन्दका अनुभव करता हुआ कालक्षेप कर ।

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम् ।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥२१२॥

जिसने आत्मस्वरूपको जान लिया है उस स्वानन्दरसका पान

करनेवाले पुरुषके लिये वासनारहित मौनसे बढ़कर उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है ।

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥२१३॥

विद्वान् मुनिको उचित है कि चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते-जागते अथवा किसी और अवस्थामें रहते निरन्तर आत्मामें रमण करता हुआ इच्छानुकूल-स्वच्छन्द-स्वतन्त्र रहे ।

एष स्वयंज्योतिरनन्तशक्तिरात्माप्रमेयः सकलानुभूतिः ।
यमेव विज्ञाय विमुक्तबन्धो जयत्ययं ब्रह्मविदुत्तमोत्तमः ॥२१४॥

यह (सर्वसाक्षी) आत्मा स्वयंप्रकाश, अनन्तशक्ति, अप्रमेय, और सर्वानुभवस्वरूप है, इसको ही जान लेनेपर वह ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्व श्रेष्ठ महात्मा संसार-बन्धनसे मुक्त होकर धन्य हो जाता है।

न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते न सज्जते नापि विरज्यते च ।
स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ॥२१५॥

विषयोंके प्राप्त होनेपर वह न दुखी होता है, न आनन्दित होता है, न उनमें आसक्त होता है और न उनसे विरक्त होता है। वह तो निरन्तर आत्मानन्दरससे तृप्त होकर स्वयं अपने-आपमें ही क्रीडा करता हुआ आनन्दित होता है ।

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्षमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने ।

वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही
सञ्चारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणि ॥२१६॥

ब्रह्मवेत्ता विद्वान्‌का चिन्ता और दीनतारहित भिक्षान्न ही भोजन तथा नदियोंका जल ही पान होता है। उनकी स्थिति स्वतन्त्रतापूर्वक और निरङ्कुश (मनमानी) होती है। उन्हें किसी प्रकारका भय नहीं होता, वे वन अथवा श्मशानमें सुखकी नींदसे सोते हैं। धोने-सुखाने आदिकी अपेक्षासे रहित दिशा [अथवा वल्कलादि] ही उनके वस्त्र हैं, पृथिवी ही बिछौना है, उनका आना जाना वेदान्त-वीथियोंमें ही हुआ करता है और परब्रह्ममें ही उनकी क्रीडा होती है।

क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः।
क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥२१७॥

ब्रह्मवेत्ता महापुरुष कहीं मूढ, कहीं विद्वान् और कहीं राजा-महाराजाओंके-से ठाट-बाटसे युक्त दिखायी देता है। वह कहीं भ्रान्त, कहीं शान्त और कहीं अजगरके समान निश्चल भावसे पड़ा दीख पड़ता है। इस प्रकार निरन्तर परमानन्दमें मग्न हुआ विद्वान् कहीं सम्मानित, कहीं अपमानित और कहीं अज्ञात रहकर अलक्षित गतिसे स्वतन्त्र-निर्भय विचरता है।

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः।
नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ॥२१८॥

वह निर्धन होनेपर भी सदा सन्तुष्ट, असहाय होनेपर भी महाबलवान्, भोजन न करनेपर भी नित्य-तृप्त और विषमभावसे वर्तता हुआ भी समदर्शी होता है ।

अपि कुर्वन्नकुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ।
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ॥२१९॥

वह महात्मा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता है, नाना प्रकारके फल भोगता हुआ भी अभोक्ता है, शरीरधारी होनेपर भी अशरीरी है और परिच्छिन्न होनेपर भी सर्वव्यापी है ।

स्थूलादिसम्बन्धवतोऽभिमानिनः सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च ।
विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः कुतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा ।२२०।

जिस देहाभिमानीका स्थूल-सूक्ष्म आदि देहोंसे सम्बन्ध होता है, उसीको सुख अथवा दुःख तथा शुभ अथवा अशुभकी प्राप्ति होती है; जिसका देहादि-बन्धन टूट गया है, उस सत्स्वरूप मुनिको शुभ अथवा अशुभ फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः ।
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ॥२२१॥

ऐसा ब्रह्मज्ञानी जीता हुआ भी सदा मुक्त और कृतार्थ ही है, शरीररूप उपाधिके नष्ट होनेपर वह ब्रह्मभावमें स्थित हुआ ही अद्वितीय ब्रह्ममें लीन हो जाता है ।

शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ।
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ॥२२२॥

नट जैसे विचित्र वेष-विन्यास धारण किये रहनेपर अथवा उसके अभावमें भी पुरुष ही है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता उपाधियुक्त हो अथवा उपाधिमुक्त, सदा ब्रह्म ही है; और कुछ नहीं।

यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुःपतनात् ।
ब्रह्मीभूतस्य यतेः प्रागेव हि तच्चिदग्निना दग्धम् ॥२२३॥

जहाँ-तहाँ गिरे हुए वृक्षके सूखे पत्तोंके समान ब्रह्मीभूत यतिका शरीर कहीं भी (शुभाशुभ देशकालादिमें-भी) गिरे वह तो पहले ही चैतन्याग्निसे दग्ध हुआ रहता है।

सदात्मनि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः पूर्णाद्वयानन्दमयात्मना सदा ।
न देशकालाद्युचितप्रतीक्षा त्वङ्मांसविट्पिण्डविसर्जनाय ॥२२४॥

सत्स्वरूप ब्रह्ममें सदैव परिपूर्ण अद्वितीय आनन्दस्वरूपसे स्थित रहनेवाले मुनिको इस त्वचा, मांस और मल-मूत्रके पिण्डको त्यागनेके लिये किसी योग्य देशकाल आदिकी अपेक्षा नहीं होती।

सदात्मैकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ।
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः ॥२२५॥

ब्रह्म और आत्माके एकत्व-ज्ञानरूप अग्निसे अविद्याजन्य शरीरादि उपाधिके दग्ध हो जानेपर तो यह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप ही हो जाता है और ब्रह्मका फिर जन्म कैसा ?

मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ।
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ॥२२६॥

बन्धन और मोक्ष मायासे ही हुए हैं; वे वस्तुतः आत्मामें

नहीं हैं; जैसे क्रियाहीन रज्जुमें सर्प-प्रतीतिका होना न होना भ्रममात्र है, वास्तवमें रज्जुमें सर्प नहीं है।

आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे।
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम्।
यद्यस्त्यद्वैतहानिः स्याद्द्वैतं नो सहते श्रुतिः ॥२२७॥

अज्ञानकी आवरणशक्तिके रहने और न रहनेसे ही क्रमशः बन्ध और मोक्ष कहे जाते हैं और ब्रह्मका कोई आवरण हो नहीं सकता, क्योंकि उससे अतिरिक्त और कोई वस्तु है नहीं; अतः वह अनावृत है। यदि ब्रह्मका भी आवरण माना जाय तो अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता और द्वैत श्रुतिको मान्य नहीं है।

बन्धं च मोक्षं च मृषैव मूढा बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्पयन्ति।
दृगावृतिं मेघकृतां यथा रवौ यतोऽद्वयासङ्गचिदेकमक्षरम् ॥२२८॥

बन्ध और मोक्ष दोनों बुद्धिके गुण हैं। जैसे मेघके द्वारा दृष्टिके ढक जानेपर सूर्यको ढका हुआ कहा जाता है उसी प्रकार मूढ पुरुष उनकी कल्पना आत्मतत्त्वमें व्यर्थ ही करते हैं क्योंकि ब्रह्म तो सदैव अद्वितीय, असंग, चैतन्यस्वरूप, एक और अविनाशी है।

हितमिममुपदेशमाद्रियन्तां विहितनिरस्तसमस्तचित्तदोषाः।
भवसुखविरताः प्रशान्तचित्ताः श्रुतिरसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥२२९॥

वेदान्तविहित श्रवणादिके द्वारा जिनके चित्तके समस्त दोष निकल गये हैं और जो संसारसुखसे विरक्त, शान्तचित्त, श्रुतिरहस्यके रसिक और मोक्ष-कामी हैं वे यतिजन इस हितकारी उपदेशका आदर करें अर्थात निरन्तर मनन करें-एवं-प्रचार करें।

श्रीस्वात्म--निरूपण--सुधा

[श्रीस्वात्म-निरूपणसमुद्धृतकतिपयश्लोकसंग्रहः]

देशिकवरं दयालुं वन्देऽहं निहतसकलसंदेहम् ।
यच्चरणद्वयमद्वयमनुभवमुपदिशति तत्पदस्यार्थम् ॥ १ ॥

सकल संदेहका ध्वंस कर्ता, दयालु, श्रेष्ठ, आचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ, जिसके चरण युगल, तत्पद का अर्थ अद्वैत-अनुभवका उपदेश करता है ।

अस्ति स्वयमित्यस्मिन्नर्थे कस्यास्ति संशयः पुंसः ।
अत्रापि संशयश्चेत्संशयिता यः स एव भवसि त्वम् ॥ २ ॥

'अस्ति स्वयं' (आप है) इस अर्थमें किस पुरुषको संशय है ? यदि इसमें भी संशय है, तो जो संशय-कर्ता है, वही स्वयं तूँ है ।

ऐक्यपरैः श्रुतिवाक्यैरात्मा शश्वत्प्रकाशमानोऽपि ।
देशिकदयाविहीनैरपरोक्षयितुं न शक्यते पुरुषैः ॥ ३ ॥

यद्यपि आत्मा सदा स्वतः प्रकाशमान् है, तथापि आचार्य-गुरु कृपा रहित मनुष्य, ऐक्य-प्रतिपादक श्रुति-वाक्योंसे भी आत्माका अपरोक्ष-साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं ।

मानं प्रबोधयन्तं बोधं मानेन ये बुभुत्सन्ते ।
एधोभिरेव दहनं दग्धुं वाञ्छन्ति ते महात्मानः ॥ ४ ॥

जो प्रमाण का प्रकाशक है, उस-ज्ञानस्वरूप आत्मा को जो प्रमाणसे जानने की अभिलाषा रखते हैं, वे महात्मा मानो लकड़ियों से अग्नि को जलाने की इच्छा करते हैं ।

अद्वैतमेव सत्यं, तस्मिन् द्वैतं ह्यसत्यमध्यस्तम् ।
रजतमिव शुक्तिकायां मृगतृष्णायामिवोदकस्फुरणम् ॥ ५ ॥

अद्वैत ही सत्य है, उसमें असत्य-द्वैत 'शुक्तिमें रजत की तरह तथा मृग-तृष्णामें उदक के समान' अध्यस्त (कल्पित) है,

आरोपितं यदि स्यादद्वैतं वस्त्ववस्तुनि द्वैते ।
युक्तं नैव तदा स्यात्सत्येऽध्यासो भवत्यसत्यानाम् ॥ ६ ॥

यदि अवस्तु-(मिथ्या) द्वैतमें अद्वैत-वस्तु आरोपित हो, तो यह युक्त (ठीक) नहीं है, क्योंकि-यह नियम से देखा गया है कि—सत्यमें ही असत्यों का अध्यास होता है, न कि-विपरीत ।

यद्यारोपणमुभयोस्तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदभावात् ।
आरोपणं न शून्ये, तस्मादद्वैतसत्यता ग्राह्या ॥ ७ ॥

द्वैत एवं अद्वैत-उभयको यदि आरोपित माना जाय तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि-इन दोनोंसे अतिरिक्त किसी पदार्थ का भाव-सत्ता नहीं है, जो इन दोनों का अधिष्ठान हो, शून्यमें आरोप नहीं हो सकता है, इसलिए 'अद्वैत ही परमार्थिक सत्य है' ऐसा ग्रहण करना चाहिये ।

प्रत्यक्षाद्यनवगतं, श्रुत्या प्रतिपादनीयमद्वैतम् ।
द्वैतं न प्रतिपाद्यं, तस्य स्वयमेव लोकसिद्धत्वात् ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षादिसे अज्ञात, अद्वैत-तत्त्व ही श्रुतिसे प्रतिपादनीय है। श्रुतिसे द्वैत प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि-वह स्वयं ही लोकसिद्ध-प्रत्यक्षादि से ज्ञात है व्यभिचारी एवं श्रुति-बाध्य है ।

अद्वैतं सुखरूपं दुःसहदुःखं सदा भवेद् द्वैतम् ।
यत्र प्रयोजनं स्यात्प्रतिपादयति श्रुतिस्तदेवासौ ॥ ९ ॥

अद्वैत सदा सुखरूप है, और द्वैत सदा दुःसह दुःखरूप है, जिसमें प्रयोजन (आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति एवं परमानन्द-प्राप्ति) होता है, उसको ही श्रुति प्रतिपादन करती है, ऐसा प्रयोजन अद्वैत में ही है, द्वैत में नहीं है ।

तस्मात्परं स्वकीयं, मोहं मोहात्मकं च संसारम् ।
स्वज्ञानेन जहित्वा, पूर्णं स्वयमेव शिष्यते नान्यत् ॥१०॥

इसलिये स्वाश्रित स्वविषयक अज्ञान का, एवं अज्ञानमय संसार का स्वस्वरूपके ज्ञानसे ध्वंस करके पूर्णस्वरूप आप ही अविशिष्ट रहता है, अन्य नहीं ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं प्रकृतं परमात्मरूपमद्वैतम् ।
अवबोधयन्ति निखिलाः श्रुतयः स्मृतिभिः समं समस्ताभिः ।११।

सत्य, ज्ञान, अनन्त, अद्वैत, प्रकृत-परमात्मस्वरूपको समस्त स्मृतियोंके साथ निखिल श्रुतियाँ बोधन करती हैं ।

ज्ञानं कर्मणि न स्यात्, ज्ञाने कर्मेदमपि तथा नस्यात् ।
कथमनयोरुभयोस्तत्तपनतमोवत्समुच्चयो घटते ॥१२॥

कर्म-(प्रकरण)में आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता, एवं ज्ञान-(प्रकरण) में यह कर्म नहीं हो सकता, इसप्रकार प्रकाश एवं अन्धकार की तरह कर्म एवं ज्ञान दोनोंका समुच्चय कैसे हो सकता है ?

तस्मान्मोहनिवृत्तौ ज्ञानं न सहायमन्यदर्थयते ।
यद्वद्घनतरतिमिरप्रकरपरिध्वंसने सहस्रांशुः ॥१३॥

इसलिये मोहमय-अज्ञानकी निवृत्तिके लिये ज्ञान अन्य-सहायककी अपेक्षा नहीं करता है, जैसे सूर्य अतीव-घनीभूत अन्धकार समुदायकी निवृत्ति करनेके लिये अन्यकी अपेक्षा नहीं करता, तद्वत् ।

रज्ज्वादेरुरगाद्यैः, सम्बन्धवदस्य दृश्यसम्बन्धः ।
सततमसङ्गोऽयमिति, श्रुतिरप्यमुमर्थमेव सादयति ॥१४॥

जैसे रज्जुआदिका सर्प आदिके साथ कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है, तैसे दृश्य-प्रपञ्चका द्रष्टा आत्माके साथ कल्पित सम्बन्ध है, वस्तुतः आत्मा निरन्तर असंग है, इस अर्थको श्रुति स्वयं प्रतिपादन करती है 'असङ्गोऽयं पुरुषः' इति ।

तस्मिन् ब्रह्मणि विदिते, विश्वमशेषं भवेदिदं विदितम् ।
कारणमृदि विदितायां, घटकरकाद्या यथाऽवगम्यन्ते ॥१५॥

उस ब्रह्मके जाननेपर यह अशेष विश्व विदित हो जाता है, जैसे कारणरूप मृत्तिकाके जानेपर तत्कार्य घट, करक (कमण्डलु) आदि जाना जाता है, तद्वत् ।

तदिदं कारणमेकं विगतविशेषं विशुद्धचिद्रूपम् ।
तस्मात्सदेकरूपान्मायोपहितादभूदशेषमिदम् ॥१६॥

वह यह जगत् का कारण, जात्यादि विशेष रहित एक विशुद्ध-चेतन है सद्रूप-एकरूप, मायासे उपहित चेतनसे यह अशेष जगत् उत्पन्न हुआ है ।

देहेन्द्रियादिदृश्यव्यतिरिक्तं निर्मलमतुलमद्वैतम् ।
अहमर्थमिति विदित्वा तद्व्यतिरिक्तं न कल्पयेत्किञ्चित् ॥१७॥

जो शरीर, इन्द्रियादि दृश्य-प्रपञ्चसे अतिरिक्त, निर्मल, अतुल, (उपमा-सादृश्यरहित)-अद्वैत है, वही अहं अर्थ है, अर्थात् 'मैं हूँ' ऐसा जानकर, उससे भिन्न-किसीभी पदार्थका चिन्तन न करे।

किमिदं किमस्य रूपं कथमेतदभूदमुष्य को हेतुः ।
इति न कदापि विचिन्त्यं, चिन्त्यं मायेति धीमता विश्वम् ॥१८॥

यह नामरूपात्मक प्रपञ्च क्या है ? इसका क्या स्वरूप है ? यह किसप्रकार उत्पन्न हुआ ? इसका कारण क्या है ? ऐसा कदापि चिन्तन नहीं करना चाहिये, किन्तु यह सब द्वैत-प्रपञ्च माया-मात्र (मिथ्या-कल्पित) है ऐसा बुद्धिमान् को चिन्तन करना चाहिये।

चिन्मात्रममलमक्षयमद्वयमानन्दमनुभवारूढम् ।
ब्रह्मैवास्ति तदन्यन्न किञ्चिदस्तीति निश्चयो विदुषाम् ॥१९॥

चिन्मात्र, निर्मल, अक्षय-अविनाशी, अद्वैत-आनन्दरूप, स्वानुभवैकवेद्य, एकमात्र ब्रह्म ही है, इससे भिन्न-अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा विद्वानोंका निश्चय है।

किं चिन्त्यं किमचिन्त्यं किं कथनीयं किमप्यकथनीयम् ।
किं कृत्यं किमकृत्यं निखिलं ब्रह्मेति जानतां विदुषाम् ॥२०॥

'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा जाननेवाले विद्वानोंको क्या चिन्त्य (चिन्तनके योग्य) है ? एवं क्या अचिन्त्य (चिन्तनके अयोग्य) है ? क्या कथनीय (कहने योग्य) है ? एवं क्या अकथनीय (कहने-अयोग्य)

हैं ? क्या कृत्य (करने योग्य) एवं क्या अकृत्य (करने अयोग्य) है ?

अजरोऽहमक्षरोऽहं प्राज्ञोऽहं प्रत्यगात्मबोधोऽहम् ।
परमानन्दमयोऽहं परमशिवोऽहं भवामि परिपूर्णः ॥२१॥

मैं अजर (वृद्धावस्थासे रहित) हूँ, मैं अक्षर (विनाशरहित) हूँ, मैं प्राज्ञ (सर्वज्ञ) हूँ, मैं प्रत्यगात्मबोध (प्रत्येक शरीरका प्रकाशक बोध-स्वरूप) हूँ, परमानन्द प्रचुर हूँ, परमशिव-कल्याणस्वरूप परिपूर्ण हूँ ।

उदयोऽहमेव जगतामुपनिषदुद्यानकृतविहारोऽहम् ।
उद्वेलशोकसागरवाडवहुतवाहनार्चिरहम् ॥२२॥

मैं सकल जगतोंका उदय (प्रकाश) हूँ, मैं उपनिषद्रूप उद्यान (बगीचा) में विहार करता हूँ, अर्थात् उपनिषदर्थ-चिन्तनका कर्ता एवं उपनिषदैकप्रतिपाद्य मैं हूँ, मैं बढा हुआ-शोक सागरके शोषण करनेवाला-वाड़वाग्निरूप-तेज हूँ ।

इन्द्रियसुखविमुखोऽहं निजसुखबोधानुभूतिभरितोऽहम् ।
ईशोऽहमीश्वराणामीर्ष्याद्वेषानुषङ्गरहितोऽहम् ॥२३॥

मैं इन्द्रिय-जन्य-तुच्छसुखसे विमुख हूँ, मैं निज-अखण्ड-विशुद्ध सुख-प्रकाशके अनुभवसे सदा भरपूर हूँ, मैं ईश्वरोंका भी ईश्वर हूँ मैं ईर्ष्या एवं द्वेषके सम्बन्धसे रहित हूँ ।

ऊर्जस्वलनिजविभवैरूर्ध्वमधस्तिर्यगश्नुवानोऽहम् ।
ऋद्धिरहं वृद्धिरहं तृप्तिरहं तृप्तिदीपदीप्तिरहम् ॥२४॥

मैं अत्यन्त-तेजोमय-बलमय-निज-विविध विभूतियोंसे ऊपर, नीचे एवं चारों तरफ व्याप्त हूँ, मैं तृप्ति-रूप दीपककी अखण्ड-दीप्ति (प्रभा) हूँ ।

अम्बरमिव विमलोऽहं शम्बररिपुजातविकृतिरहितोऽहम् ।
ओंकारसारसोल्लसदात्मसुखामोदमत्तभृंगोऽहम् ॥२५॥

मैं आकाशके समान विमल हूँ, मैं कामसे समुत्पन्न-विकारोंसे रहित हूँ, अत एव मैं ॐकाररूप कमलसे प्रसरित आत्मानन्दरूप सुगन्धसे मत्त हुआ एक प्रकारका भ्रमर हूँ ।

करुणारसभरितोऽहं कवलितकमलासनादिलोकोऽहम् ।
कलुषाकृतिरहितोऽहं कल्मषसुकृतोपलेशरहितोऽहम् ॥२६॥

मैं करुणारूप रसामृतसे भरपूर हूँ, मैं ब्रह्म-लोकसे लेकर सकल लोकोंमें व्याप्त हूँ, मैं मलिन-अहंकारसे रहित हूँ, एवं मैं पुण्य-पापके सम्बन्धसे रहित हूँ ।

चरदचरात्मकोऽहं चतुरमतिश्लाघनीयचरितोऽहम् ।
चपलजनदुर्गमोऽहं चंचलभवजलधिपारदेशोऽहम् ॥२७॥

मैं चराचर-(स्थावर-जंगम) रूप हूँ, मैं चतुरबुद्धिवालोंसे श्लाघनीय (प्रशंसनीय-स्तुत्य) चरित्रवाला हूँ, मैं चञ्चल-बहिर्मुख मनुष्योंके लिये दुर्गम (अगम्य) हूँ, एवं मैं अस्थिर-संसार-सागरका पारदेश-विष्णुपरमपदस्वरूप हूँ ।

घनतरविमोहतिमिरप्रकरप्रध्वंसभानुनिकरोऽहम् ।
जगदानन्दकरोऽहं जन्मजरारोगमरणरहितोऽहम् ॥२८॥

मैं अतीव-घनीभूत मोहरूप अन्धकारके समूहका प्रध्वंसक-सूर्य-किरण समूहरूप हूँ, मैं जगत् को आनन्द-प्रदान करता हूँ एवं मैं जन्म, जरा, रोग, और मरणसे रहित हूँ ।

फणधरभूधरवारणविग्रहविधृतप्रपञ्चसारोऽहम् ।
भालतलोदितलोचनपावकपरिभूतपञ्चबाणोऽहम् ॥२९॥

मैं शेष-नाग, पर्वत एवं दिक् हस्तियोंके विग्रहसे विधारित-जगत् का साररूप हूँ, तथा कपालमें उदित-अग्निरूपनेत्रसे कामका पराजय करनेवाला त्र्यम्बक शिव हूँ ।

यजनयजमानयाजकयागमयोऽहं यमादिरहितोऽहम् ।
इन्द्रयमवरुणयक्षराक्षसमरुदीशवह्निरूपोऽहम् ॥३०॥

मैं समन्त्रहविष्य-होमात्मक क्रियारूपयजन, यज्ञकर्ता-यजमान, यज्ञकारयिता-ऋत्विक्-याजक, एवं यागरूप हूँ, यमादिसे रहित हूँ, तथा इन्द्र, यम, वरुण, यक्ष, राक्षस, मरुत् (वायु) रुद्र एवं अग्निरूप भी मैं ही हूँ ।

शमदमविरहितमनसां शास्त्रशतैरप्यगम्यमानोऽहम् ।
शरणमहमेवविदुषां शकलीकृतविविधसंशयगणोऽहम् ॥३१॥

शम, दमादि साधन सम्पत्तिसे रहित मनवाले-मनुष्यों को मैं सैंकड़ों-शास्त्र के अवलोकन से भी दुःष्प्राप्य हूँ, विद्वानोंका एकमात्र मैं ही शरण (आश्रय) हूँ, अनेक-विध संशय गण का मैं ही विध्वंसक सद्गुरु आचार्य हूँ ।

हरिरहमस्मि हरोऽहं, विधिरहमेवास्मि कारणं तेषाम् ।
संसारविरहितोऽहं साक्षात्कारोऽहमात्मविद्यायाः ॥३२॥

मैं हरि हूँ, मैं हर हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, और उनका कारण परात्पर-ब्रह्म भी मैं ही हूँ, मैं संसार-से रहित हूँ, एवं आत्मविद्याका

साक्षात्कार विशुद्ध आनन्द-चेतन आत्मा भी मैं हूँ ।

बहुभिः किमेभिरुक्तैरहमेवेदं चराचरं विश्वम् ।
शीकरफेनतरङ्गाः, सिन्धोरपराणि न खलु वस्तूनि ॥३३॥

बहुत इस कथन से क्या ? मैं ही यह चराचर विश्व हूँ, जैसे समुद्र से, बिन्दु-फेन, एवं तरङ्ग भिन्न वस्तु नहीं हैं, तद्वत् यह समस्त विश्व मुझ-चिदात्मासे भिन्न नहीं हो सकता ।

शरणं नहि मम जननी, न पिता न सुता न सोदरा नान्ये ।
परमं शरणमिदं स्याच्चरणं मम मूर्ध्नि देशिकन्यस्तम् ॥३४॥

माता मेरा शरण नहीं है, न पिता, न पुत्र, न भाई भी मेरा शरण है, एवं अन्य भी कोई मेरा शरण नहीं है, किन्तु मेरे मस्तक पर रक्खा हुआ आचार्य-सद्गुरुदेवका एकमात्र चरण ही परम शरण है ।

आस्ते देशिकचरणं, निरवधिरास्ते तदीक्षणे करुणा ।
आस्ते किमपि यदुक्तं, किमतः परमस्ति जन्मसाफल्यम् ॥३५॥

आचार्य-गुरुका चरण मेरे मस्तक पर है, उस गुरुदेव के मेरे प्रति अवलोकनमें अवधि-रहित कृपा है, उन का उपदेश मेरे हृदयमें है, इसके बढ़कर और क्या मनुष्य-जन्मकी सफलता होगी ? ।

कारुण्यसारसान्द्राः कांक्षितवरदानकल्पविशेषाः ।
श्रीगुरुचरणकटाक्षाः शिशिराः शमयन्ति चित्तसन्तापम् ॥३६॥

करुणाका घनीभूत साररूप, अभिलषित वरदान-देनेमें समर्थ कल्पवृक्षादि पदार्थोंसे भी श्रेष्ठ श्रीसद्गुरुदेवके चरणकमलके शीतल-कटाक्ष मेरे चित्तके सन्तापको सदाके लिये शान्त करते हैं ।

मयि सुखबोधपयोधौ, महति ब्रह्माण्डबुद्बुदसहस्रम् ।
मायामयेन मरुता, भूत्वा भूत्वा पुनस्तिरोधत्ते ॥३७॥

महान्-व्यापक आनन्द-ज्ञानरूप मुझ महासागरमें मायारूप-पवन से ब्रह्माण्डरूप सहस्र बुद्बुद, उत्पन्न-हो होकर पुनः विलीन हो जाता है ।

गुरुकृपयैव सुनावा, प्राक्तनभाग्यानुकूलमारुतया ।
दुःसहदुःखतरङ्गस्तुङ्गः, संसारसागरस्तीर्णः ॥३८॥

गुरुकृपारूप अच्छी-नौकासे, पूर्व-पुण्यपुञ्जरूप सद्भाग्यरूप अनुकूल पवन द्वारा दुःसह दुःखरूपी तरङ्गोंवाला-अतिगहन-संसार-सागरसे मैं तर गया हूँ ।

सति तमसि मोहरूपे, विश्वमपश्यन्तदेतदित्यखिलम् ।
उदितवति बोधभानौ, किमपि न पश्यामि किन्त्विदं चित्रम् ।३९।

अज्ञानरूप अन्धकार के होनेपर यह विश्व प्रपञ्च मैं देखता था, अब ज्ञान-सूर्यके उदित होनेपर यह प्रपञ्च कुछ भी नहीं देख रहा हूँ, यह आश्चर्य है ।

अज्ञानान्ध्यविहन्ता, विरचितविज्ञानपङ्कजोल्लासः ।
मानसगगनतलं मे, भासयति श्रीनिवासगुरुभानुः ॥४०॥

अज्ञानरूप-अन्धत्व के विनाश करनेवाले विज्ञानरूप कमल के प्रफुल्लित करनेवाले-श्रीगोविन्दरूप सद्गुरु-सूर्य मेरे मनरूपी गगन-तलमें सदाके लिये प्रकाशित हो रहे हैं ।

॥ इति श्रीस्वात्म-निरूपण-सुधा समाप्ता ॥

आत्म-बोध

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ।
मुमुक्षुणामपेक्षोऽय-मात्मबोधो विधीयते ॥ १ ॥

स्ववर्णाश्रमधर्मपालनादिरूप तपोंसे जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, एवं जो वीतराग शान्त, एवं मुमुक्षु हैं, उनके लिये यह आत्म-बोध-ग्रन्थ किया जाता है ।

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि, साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं, विना मोक्षो न सिद्ध्यति ॥ २ ॥

निष्कामकर्मादि, विवेकादि एवं श्रवणादिरूप-अन्यान्यसाधनोंसे साक्षात् एवं परम्परया ज्ञानकी प्राप्ति होती है, वह ज्ञान ही 'पाकका साक्षात्कारण वह्निके समान' साक्षात् मोक्षका एक मात्र-मुख्य साधन है, ज्ञानके विना कदापि मोक्षसिद्धि नहीं हो सकता ।

अविरोधितया कर्म, नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव, तेजस्तिमिरसंघवत् ॥३॥

अविरोधी होनेसे कर्म अविद्याकी निवृत्ति नहीं कर सकता, किन्तु जैसे प्रकाश अन्धकार-समुदायको निवृत्त करता है, तैसे विद्या ही अविद्याकी निवृत्ति करती है ।

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः ।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥४॥

अज्ञानसे ही व्यापक आत्मा परिच्छिन्न-अल्पकी तरह प्रतीत होता है, अज्ञानके नाश होनेपर केवल-विशुद्ध-स्वयं आत्मा 'मेघके

दूर होनेपर सूर्यके समान' यथार्थस्वरूपसे प्रकाशित होता है।

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥ ५ ॥

अज्ञानसे मलीन हुए जीवको ज्ञानाभ्याससे अत्यन्त निर्मल करके ज्ञान (अन्तःकरणकी 'अहंब्रह्मास्मि' रूपा-वृत्ति) भी 'मलीन जलमें जल-शुद्ध करनेके लिए डाली हुई कतकरेणु (निर्मली-बूटी) के समान' स्वयं निवृत्त हो जाता है।

संसारः स्वप्नतुल्यो हि, रागद्वेषादिसंकुलः ।
स्वकाले सत्यवद्भाति, प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत् ॥ ६ ॥

रागद्वेषादिसे भरपूर यह संसार स्वप्नके समान मिथ्या है, अज्ञान कालमें सत्यकी तरह प्रतीत होता है, तथा ज्ञानके समय असत्यकी तरह मिथ्या हो जाता है।

तावत्सत्यं जगद्भाति, शुक्तिकारजतं यथा ।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म, सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ ७ ॥

जैसे जबतक शुक्तिका ज्ञान नहीं होता, तबतक रजत सत्य-सी प्रतीत होती है, तैसे जबतक सर्वाधिष्ठान-अद्वैत-ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता, तबतक मिथ्या-जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है।

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते, नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः ।
व्यक्तयो विविधाः सर्वा, हाटके कटकादिवत् ॥ ८ ॥

सच्चित्स्वरूप, सर्वानुस्यूत, नित्य, व्यापकविष्णुमें 'सुवर्णमें कटक कुण्डलादिकी तरह' सभी विविध देव-नरादि व्यक्तियाँ कल्पित हैं।

उपादानेऽखिलाधारे जगन्ति परमेश्वरे ।
सर्गस्थितिलयान्यान्ति, बुद्बुदानीव वारिणि ।। ९ ।।

'जलमें बुद्बुदोंके समान' समस्त जगत् का आधार-विवर्तोपादान कारणरूप-परमेश्वरमें अनेक ब्रह्माण्ड, उत्पन्न होते हैं, स्थिति करते हैं, एवं लीन हो जाते हैं।

यथाऽकाशो हृषीकेशो, नानोपाधिगतो विभुः ।
तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति, तन्नाशे सति केवलः ।।१०।।

जैसे महाकाश, घटादि-उपाधिके भेदसे भिन्नकी तरह प्रतीत होता है, तैसे हृषीकेश विभु-परमात्मा, देहादि विविध उपाधियोंमें रहा हुआ, उपाधियोंके भेदसे भिन्नकी तरह प्रतीत होता है, और उपाधियोंके नाश होनेपर केवल भेदरहित-एक-अद्वय ही रहता है।

नानोपाधिवशादेव, जातिनामाश्रमादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये, रसवर्णादिभेदवत् ।।११।।

'जलमें रस, वर्णादि भेदके समान' विविध-अनेक शरीरादि उपाधिके सम्बन्धसे ही विशुद्ध-आत्मामें ब्राह्मणत्वादि जाति, देवदत्तादि नाम, ब्रह्मचर्यादि आश्रम आदिका आरोप होता है।

पञ्चीकृतमहाभूतसंभवं कर्मसञ्चितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ।।१२।।

पञ्चीकृत-पंच-महाभूतोंसे उत्पन्न, प्रारब्धकर्मसे रचित, सुख एवं दुःखोंके भोगका स्थान यह स्थूल-शरीर कहा जाता है।

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं, सूक्ष्मांगं भोगसाधनम् ॥१३॥

दश (पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय) इन्द्रियसहित, पंचप्राण, मन एवं बुद्धिरूप, अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे उत्पन्न, सुखदुःख साक्षात्काररूप भोगका साधन सूक्ष्म शरीर कहा जाता है।

अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या, कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥१४॥

अनादि, अनिर्वचनीय, अविद्या ही कारण-शरीररूप उपाधि कहलाती है, इन स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीररूप तीन उपाधियोंसे भिन्न विशुद्ध-आत्माका निश्चय करना चाहिये।

पञ्चकोशादियोगेन, तत्तन्मय इव स्थितः ।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादि-योगेन, स्फटिको यथा ॥१५॥

जैसे नील, पीत, वस्त्रादिके सम्बन्धसे शुद्ध-स्फटिक नील पीतादि रूपसे प्रतीत होता है, तैसे अन्नमयादि पञ्चकोशके सम्बन्धसे शुद्ध-आत्मा भी उस उस कोशमय प्रतीत होता है।

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्याऽवघाततः ।
आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा ॥१६॥

जैसे तुष (छिलके) आदि आच्छादनसे युक्त तण्डुल (धान) को अवघातद्वारा तुषसे पृथक् किया जाता है, तद्वत् पञ्चकोशसे युक्त शुद्ध अन्तरतम आत्माको अन्वय-व्यतिरेकादियुक्तिसे पृथक् करना चाहिये।

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते ।
बुद्धावेवावभासेत, स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥१७॥

'स्वच्छदर्पणादि-पदार्थमें सूर्यादि-प्रतिबिम्बके समान' सदा सर्वगत भी आत्मा सभी जगह चेतनरूपसे प्रतीत नहीं होता है, किन्तु स्वच्छ बुद्धिमें ही प्रतीत होता है ।

देहेन्द्रियमनोबुद्धि-प्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत्सदा ॥१८॥

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, एवं प्रकृतिसे विलक्षण, इन्द्रियादि-तयोंका साक्षी आत्माको 'राजाके समान' प्रधान जानना चाहिये ।

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा, व्यापारीवाविवेकिनाम् ।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥१९॥

जैसे दौड़ते हुए बादलोंके सम्बन्धसे चन्द्रमा दौड़ता-हुआ-सा प्रतीत होता है, तैसे व्यापारयुक्त-इन्द्रियोंके सम्बन्धसे निष्क्रिय आत्मा भी अविवेकियोंको व्यापारवाला प्रतीत होता है ।

आत्मचैतन्यमाश्रित्य, देहेन्द्रियमनोधियः ।
स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते, सूर्यालोकं यथा जनाः ॥२०॥

जैसे सूर्य-प्रकाशका आश्रय लेकर सभी लोक स्वस्व कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, तैसे आत्म-चैतन्य-प्रकाशका आश्रय लेकर, देह, इन्द्रिय, मन, एवं बुद्धि भी स्वस्वकार्यमें प्रवृत्त होते हैं ।

देहेन्द्रियगुणान्कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि ।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन, गगने नीलिमादिवत् ॥२१॥

जैसे निरूप-आकाशमें दूरत्वादिदोषसे नीलिमादिका अध्यास होता है, तैसे निर्मल सच्चिदात्मामें देह-इन्द्रिय आदिके धर्मोंका तथा कर्मोंका अविवेकसे आरोप करते हैं।

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे, चलनादिर्यथाऽम्भसः ॥२२॥

जैसे जलके चलनादि धर्म, जलगत-प्रतिबिम्ब चन्द्रमें कल्पित प्रतीत होते हैं, तैसे, अज्ञानसे मनरूप उपाधिके कर्तृत्वभोक्तृत्वादि धर्म आत्मामें कल्पित ही प्रतीत होते हैं।

रागेच्छासुखदुःखादि, बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे, तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥२३॥

बुद्धिके होनेपर ही, राग, इच्छा, सुख, दुःखादि प्रवृत्त होते हैं, सुषुप्तिमें बुद्धिके विलय होनेपर रागादि प्रवृत्त नहीं होते हैं, इसलिये रागादिधर्म बुद्धिके हैं, आत्माके नहीं।

प्रकाशोऽर्कस्य, तोयस्य, शैत्यमग्नेर्यथोष्णता।
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलताऽऽत्मनः ॥२४॥

जैसे सूर्यका प्रकाश, जलका शैत्य, अग्निकी उष्णता स्वाभाविक-स्वरूप है, तैसे आत्माका सत्, चित्, आनन्द, नित्य, निर्मलत्व स्वाभाविक सदासिद्ध स्वरूप है।

आत्मनः सच्चिदंशश्च, बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम्।
संयोज्य चाविवेकेन, जानामीति प्रवर्तते ॥२५॥

आत्माका सत् एवं चैतन्य अंश, तथा बुद्धिकी वृत्ति, इन दोनोंको एकत्र करके अविवेकसे 'मैं जानता हूँ' ऐसा प्रयोग होता है।

आत्मनो विक्रिया नास्ति, बुद्धेर्बोधो न जात्विति।
जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा, कर्ता द्रष्टेति मुह्यति ॥२६॥

आत्मामें विकार नहीं है, और जड़-बुद्धि में कदाचित् ज्ञान नहीं है, इसप्रकार जीव, भ्रान्तिसे सभी कर्तृत्वादि मल को अपने में जानकर मैं कर्ता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, ऐसा मोहको प्राप्त होता है।

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत्।
नाहं जीवः परमात्मेति ज्ञातं चेन्निर्भयोभवेत् ॥२७॥

रज्जु सर्प के समान, शुद्ध-आत्मा को जीव जानकर भय-प्राप्त होता है, 'मैं जीव नहीं हूँ, किन्तु परमात्मा हूँ' ऐसा यदि जाना जाता है तो, वह सदाके लिये निर्भय हो जाता है।

आत्माऽवभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाणिच।
दीपो घटादिवत्स्वात्मा, जडैस्तैर्नावभास्यते ॥२८॥

जैसे घटादिको दीप प्रकाशता है, दीप घटादिसे प्रकाशित नहीं होता, तैसे एक ही आत्मा बुद्धि आदि इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, उन-जड़ बुद्धि-आदिओंसे आत्मा प्रकाशित नहीं होता है।

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा, बोधरूपतयाऽऽत्मनः।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा, यथा स्वात्मप्रकाशने ॥२९॥

जैसे प्रकाशरूप दीप को स्वप्रकाशमें अन्य दीप की अपेक्षा

नहीं होती है, तद्वत् ज्ञानस्वरूप आत्माको स्व-बोध में अन्य-बोधकी अपेक्षा नहीं होती है।

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेति वाक्यतः।
विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥३०॥

'नेति नेति' (यह आत्मा स्थूलादि नहीं, यह मूर्तादि नहीं) इस वेद वाक्यसे सकल देहादि-उपाधियोंका निषेध करके तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से जीवात्म-परमात्माका अभेद निश्चय करना चाहिये।

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम्।
एतद्विलक्षणं विद्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम् ॥३१॥

अविद्याका कार्य, बुद्बुदके समान, क्षणभङ्गुर, शरीरादि दृश्य-प्रपञ्च है उससे विलक्षण निर्मल ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये।

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादयः।
शब्दादिविषयैः संगो निरिन्द्रियतया न च ॥३२॥

स्थूल-देहसे मैं अन्य हूँ, अत एव पाञ्चभौतिक स्थूल देहके जन्म, जरा, कृशत्व, मरण आदि धर्म मेरे नहीं हो सकते, एवं मैं इन्द्रियोंसे भिन्न हूँ, अत एव शब्दादि-विषयोंके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुति शासनात् ॥३३॥

मन से मैं पृथक् हूँ, अत एव मन के दुःख, राग, द्वेष, भय

आदि-धर्म मेरे नहीं हो सकते हैं, 'आत्मा प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध निर्मल है' इत्यादि श्रुतियोंके अनुशासनसे पूर्वोक्त आत्मस्वरूप निश्चित होता है।

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो, निर्विकल्पो निरञ्जनः।
निर्विकारो निराकारो, नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥३४॥

मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, निर्विकल्प, निरञ्जन, निर्विकार, निराकार, नित्यमुक्त निर्मल आत्मस्वरूप हूँ।

अहमाकाशवत्सर्वंबहिरन्तर्गतोऽच्युतः।
सदा सर्वसमः शुद्धो निःसंगो निर्मलोऽचलः ॥३५॥

मैं आकाशके समान सर्वके अन्तर एवं बाहर पूर्ण हूँ, अच्युत, सदा सर्वमें समान,-एकरस शुद्ध, असंग, निर्मल एवं अचल हूँ।

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्, परं ब्रह्माहमेव तत् ॥३६॥

नित्य-शुद्ध-विमुक्त, एक, अखण्ड, आनन्द, अद्वय, सत्य, ज्ञान, अनन्त, जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ।

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना।
हरत्यविद्याविक्षेपान्, रोगानिव रसायनम् ॥३७॥

इसप्रकार निरन्तर अभ्यास की हुई 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी भावना-रसायन जैसे रोगोंका नाश करती है, तैसे—अविद्या-जन्य विक्षेपोंका ध्वंस करती है।

विविक्तदेश आसीनो, विरागो विजितेन्द्रियः ।
भावयेदेकमात्मानं, तमनन्तमनन्यधीः ॥३८॥

एकान्त-पवित्रदेशमें बैठकर, वीतराग एवं जितेन्द्रिय होकर, अनन्य-बुद्धिसे उस एक अनन्त-आत्माकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिये, अर्थात् अनात्म-भावनाका तिरस्कार करना चाहिये ।

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः ।
भावयेदेकमात्मानं, निर्मलाकाशवत्सदा ॥३९॥

शोभन बुद्धिवाला मुमुक्षु विवेकवती बुद्धिसे आत्मामें ही समस्त दृश्य-प्रपञ्चका प्रविलापन करके निर्मल-आकाशके समान सदा एक-आत्माकी ही दृढ़ भावना करता रहे ।

नामरूपादिकं सर्वं, विहाय परमार्थवित् ।
परिपूर्णचिदानन्द-स्वरूपेणावतिष्ठते ॥४०॥

परमार्थ तत्त्वकाज्ञाता नामरूपादिक सब द्वैत-प्रपञ्चका परित्याग करके परिपूर्ण-चिदानन्द-स्वरूपसे ही स्थित रहता है ।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परमात्मनि न विद्यते ।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव हि ॥४१॥

परमात्मामें ज्ञाता ज्ञान एवं ज्ञेयरूप त्रिपुटीका भेद नहीं है वह स्वयं ही एकमात्र-चिदानन्दस्वरूपसे प्रकाशित हो रहा है ।

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते ।
उदितावगतिर्ज्वाला, सर्वाज्ञानेंधनं दहेत् ॥४२॥

इस प्रकार आत्मरूप-अरणिमें निरन्तर ध्यानरूप-मथन करनेसे

उत्पन्न होनेवाली विज्ञानरूपी प्रचण्ड ज्वाला, समस्त अज्ञानरूपी काष्ठको भस्म कर डालती है ।

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं संतमसि हृते ।
तत आविर्भवेदात्मा, स्वयमेवांशुमानिव ॥४३॥

'अरुणके समान' प्रथम ज्ञानसे अज्ञानरूप तमका ध्वंस होनेके अनन्तर 'सूर्यके समान' स्वयं ही आत्मा प्रकट हो जाता है ।

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्तवदविद्यया ।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति, स्वकण्ठाभरणं यथा ॥४४॥

जैसे अपने कण्ठमें रहा हुआ आभूषण सदा प्राप्त है परन्तु भ्रान्तिसे अप्राप्तके समान प्रतीत होता है, तैसे आत्मा स्वस्वरूप होनेसे सदा प्राप्त है, परन्तु अविद्यासे अप्राप्तकी तरह प्रतीत होता है, अविद्याके नाश होनेपर वह प्राप्तकी तरह प्रतीत होता है ।

स्थाणौ पुरुषवद् भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता ।
जीवस्य तात्त्विके रूपे, तस्मिन्दृष्टे निवर्तते ॥४५॥

स्थाणु (ठूंठ) में पुरुष-भ्रान्तिके समान ब्रह्ममें भ्रान्तिसे जीव भाव हुआ है । जीवके तात्त्विकरूपका साक्षात्कार होनेपर जीवभाव निवृत्त हो जाता है ।

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा ।
अहं ममेति चाज्ञानं, बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥४६॥

तत्त्वस्वरूपके अनुभवसे उत्पन्न ज्ञान शीघ्र ही 'दिग्भ्रमादिके समान' अहं मम रूप अज्ञानका बाध कर देता है ।

सम्यग्विज्ञानवान् योगी, स्वात्मन्येवाखिलं स्थितम् ।
एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥४७॥

यथार्थ-विज्ञानसे सम्पन्न योगी ज्ञानदृष्टिसे अपने आत्मामें ही निखिल-विश्वस्थित है, तथा सब कुछ एक आत्मा ही है, ऐसा अनुभव करता है।

आत्मैवेदं जगत्सर्व-मात्मनोऽन्यन्न विद्यते ।
मृदो यद्वद् घटादीनि, स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥४८॥

यह सर्व जगत् आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है, जैसे मृत्तिकासे घटादि भिन्न नहीं हैं, मृत्तिकारूप ही हैं, तद्वत् सर्व विश्वको योगी स्वात्मरूपसे अभिन्न ही देखता है ।

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान्, पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
सच्चिदानन्दरूपत्वाद्भवेद् भ्रमरकीटवत् ॥४९॥

आत्म-तत्त्वका ज्ञाता जीवन्मुक्त विद्वान्, पूर्व-कल्पित-उपाधियोंके गुणोंका त्याग करता है, एवं 'भ्रमरकीटके समान' सच्चिदानन्दरूपका चिन्तन करता हुआ तद्रूप हो जाता है ।

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा, रागद्वेषादिराक्षसान् ।
योगी शान्तिसमायुक्तो ह्यात्मारामो विराजते ॥५०॥

मोहरूप समुद्रको तरकर, रागद्वेष आदि राक्षसोंका विनाश कर शान्तिरूपी सीतासे युक्त होकर योगी आत्मारामरूप होकर विराजता है ।

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वाऽऽत्मसुखनिर्वृतः ।
घटस्थदीपवत्स्वस्थः, स्वान्तरेव प्रकाशते ॥५१॥

बाह्य-विषयों की अनित्यसुखकी आसक्तिका परित्याग करके आत्मसुखसे आनन्दित हुआ घटस्थित दीपके समान स्वस्थ-योगी अपने भीतर ही प्रकाशित रहता है ।

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्तो व्योमवन्मुनिः ।
सर्वविन्मूकवत्तिष्ठेन्नासक्तो वायुवच्चरेत् ॥५२॥

शरीरादि-उपाधिमें रहता हुआ भी योगी 'आकाशके समान' उपाधिके धर्मोंसे लिप्त नहीं होता है, सब कुछ जानता हुआ भी मूकके समान रहता है, और अनासक्त होकर 'वायुके समान' जहाँ तहाँ स्वच्छन्द विचरता है ।

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषे विशेन्मुनिः ।
जले जलं वियद्व्योम्नि, तेजस्तेजसि वा यथा ॥५३॥

जैसे जलमें जल, (महा) आकाशमें (घटादि) आकाश; एवं (सामान्य) तेजमें (विशेष) तेज प्रविष्ट-लीन हो जाता है, तैसे उपाधिके विलय होनेपर मुनि-विशेषरहित व्यापक-विष्णु-स्वरूपमें लीन हो जाता है ।

यल्लाभान्नापरो लाभो, यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं, तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५४॥

जिस-लाभसे बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है, जिस सुखसे बढ़कर अन्य कोई सुख नहीं है, जिस ज्ञानसे बढ़कर अन्य कोई

ज्ञान नहीं है, वह लाभरूप, सुखरूप एवं ज्ञानरूप ब्रह्म है, ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

यद् दृष्ट्वा नापरं दृश्यं, यद्भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं, तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५५॥

जिसका दर्शन कर अन्य कुछ भी वस्तु दर्शन-योग्य नहीं रहती, जिसके स्वरूपके साक्षात्कार होनेपर पुन-र्जन्म होता नहीं, जिसको जाननेपर अन्य कुछ भी जानने योग्य रहता नहीं, वही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करे ।

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं, सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तं नित्यमेकं यत्, तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५६॥

जो इधर उधर, ऊपर, नीचे, पूर्ण है, एवं सच्चिदानन्द, अद्वय, अनन्त नित्य-एक है, वही ब्रह्म है, ऐसा निश्चय करे ।

अतद्व्यावृत्तिरूपेण, वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽव्ययम् ।
अखण्डानन्दमेकं यत्तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५७॥

वेदान्तों (उपनिषत) द्वारा जो अतद्व्यावृत्ति-(अनात्म-निषेध) रूपसे जो अव्यय-अखण्डानन्द एक लक्षित होता है, वही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करे ।

अखण्डानन्दरूपस्य, तस्यानन्दलवाश्रिताः ।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन, भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ॥५८॥

जिस अखण्डानन्दरूप-ब्रह्मके लेश (बिन्दु) आनन्दका आश्रय कर ब्रह्मासे आदि लेकर सभी प्राणी न्यूनाधिकभावसे आनन्दित होते हैं ।

तद्युक्तमखिलं वस्तु, व्यवहारस्तदन्वितः ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म, क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥५९॥

सभी वस्तु उससे युक्त हैं, सकल व्यवहार भी उससे अन्वित है, इसलिये 'दूधमें घृतके समान' सबमें वह सर्वगत-ब्रह्म वर्तमान है।

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं, तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६०॥

जो अणुत्व, स्थूलत्व, ह्रस्वत्व एवं दीर्घत्व आदि धर्मोंसे रहित, अज, अव्यय है, तथा जो रूप गुण रंग एवं नाम से अतीत है, वही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करे।

यद्भासा भास्यतेऽर्कादि र्भास्यैर्यत्तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति, तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६१॥

जिसके प्रकाशसे सूर्यादि प्रकाशित होते हैं, जो सूर्यादि-प्रकाश्यों से प्रकाशित नहीं होता है, जिस से यह सब विश्व प्रतीत होता है, वही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करे।

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य, भासयन्नखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥६२॥

जैसे अग्नि से अत्यन्त तप्त लोहे के गोलेमें बाहर भीतर अग्नि व्याप्त होकर लोहेको प्रकाशती हुई स्वयं प्रकाशती है। तैसे ब्रह्म विश्वके बाहर भीतर व्याप्त होकर, सकल जगत् को प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशता है।

जगद्विलक्षणं ब्रह्म, ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या, यथा मरुमरीचिका ॥६३॥

यद्यपि जगत् से ब्रह्म विलक्षण है, तथापि ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी नहीं है, ब्रह्मसे भिन्न जो कुछ नामरूपात्मक जगत् प्रतीत होता है, वह सब मरुमरीचिका-जल के समान मिथ्या ही है ।

दृश्यते श्रूयते यद्यद् ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ।
तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥६४॥

ब्रह्मसे भिन्न जो कुछ भी देखनेमें अथवा सुननेमें आता है, वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है, तत्त्वज्ञानसे वह सब सच्चिदानन्द-अद्वय ब्रह्म ही निश्चित होता है।

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत, भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥६५॥

ज्ञानदृष्टियुक्त महापुरुष, सर्वव्यापक सच्चिद्रूप आत्माको सर्वत्र सदा देखता है। जैसे अन्धा सर्वप्रकाश-सूर्य को देखता नहीं है, तैसे अज्ञान-दृष्टिवाला मनुष्य उस आत्माको देख नहीं सकता है।

श्रवणादिभिरुद्दीप्तज्ञानाग्निपरितापितः ।
जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद् द्योतते स्वयम् ॥६६॥

श्रवणादि-साधनोंसे उद्दीप्त हुई ज्ञानाग्नि से अच्छी प्रकार तपा हुआ जीव 'सुवर्ण के समान' सर्व मलसे विमुक्त हुआ स्वयं विद्योतित होता है ।

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत् ।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति सर्वं प्रकाशते ॥६७॥

हृदयाकाशमें उदित, ज्ञान-सूर्यरूप आत्मा अज्ञानरूपतम का ध्वंस करता हुआ सर्वव्यापक एवं सर्वाधाररूपसे स्वयं प्रकाशता हुआ सभी विश्वको प्रकाशित करता है।

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्यसर्वगं, शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः, स सर्ववित् सर्वगतोऽमृतो भवेत् ।६८।

जो पुरुष दिक्, देश, एवं काल आदिकी अपेक्षा-रहित, शीतोष्णादिद्वन्द्व-ध्वंसक, अखण्ड-सुखनिधि, निरञ्जन स्वात्मारूप तीर्थका सेवन करता है, वह क्रियारहित, सर्ववित् सर्वगत एवं अमृत-ब्रह्मरूप हो जाता है ।

॥ इति श्री आत्म--बोध समाप्तः ॥

हरिमीडे--स्तोत्रम्

(मत्तमयूर छन्द) ❋

स्तोष्ये भक्त्या विष्णुमनादिं जगदादिं,
यस्मिन्नेतत्संसृतिचक्रं भ्रमतीत्थम् ।
यस्मिन् दृष्टे नश्यति तत्संसृतिचक्रं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ १ ॥

❋ इस छन्दमें चार और नव अक्षरपर विश्राम होता है । नव अक्षरमें भी पाँच और चार अक्षरोंके मध्यमें कुछ विश्राम लेना चाहिये ।

मैं (आचार्य श्रीशंकर स्वामी) समस्त विश्वका कारण, अनादि, व्यापक-विष्णु परमात्माकी विशुद्ध भक्तिपूर्वक स्तुति करूँगा। जिस अधिष्ठान स्वरूप विष्णुमें यह कष्टप्रद कल्पित संसार-चक्र कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि विविधरूपसे परमार्थमें न होता हुआ भी अनादि-कालसे भ्रमण करता रहता है। जिस सच्चिदानन्द विष्णुका साक्षात्कार होने-पर यह संसारचक्र समूल नष्ट होजाता है। इस संसारचक्रके कारणरूप अज्ञानकी-निवृत्तिरूप‡ उस विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

यस्यैकांशादित्थमशेषं जगदेतत्,
प्रादुर्भूतं येन पिनद्धं पुनरित्थम्।
येन व्याप्तं येन विबुद्धं सुखदुःखै,
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ २ ॥

जिस मायाशक्ति-युक्त विष्णु परमात्माके कल्पित एक अंशसे, कर्तृत्वादि विविध अनर्थविशिष्ट यह नामरूपात्मक संसार उत्पन्न हुआ है। और जिस अन्तर्यामी नारायणसे इस संसारकी विचित्र व्यवस्था नियुक्त की गई है। जिससे यह तमाम जगत् व्याप्त है, यानी जो निखिल विश्वमें बाहर-भीतर ओत-प्रोत होकर परिपूर्णरूपसे स्थित है। जिससे यह संसार, सुखदुःखादिके विचित्र अनुभव द्वारा भासित हो रहा है। उस संसारके कारण अज्ञानकी निवृत्तिरूप, या ब्रह्मविद्याद्वारा अज्ञानके नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

---

‡ 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः' अज्ञानादि कल्पित वस्तुका नाश अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप होता है, अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होता।

सर्वज्ञो यो यश्च सर्वस्सकलो यो,
यश्चानन्दोऽनन्तगुणो यो गुणधामा ।
यश्चाव्यक्तो व्यक्तसमस्तः सदसद्य-
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ ३ ॥

जो परमात्मा सर्वज्ञ, यानी सबको जानता है, सर्वरूप है यानी सर्वमें परिपूर्ण है। सर्वका उपादान एवं निमित्त कारण भी है, अखण्ड विशुद्धानन्द स्वरूप है, असंख्य कल्याण गुणोंसे युक्त है, त्रिगुणमयीमायाका अधिष्ठान है, अव्यक्त है यानी मन आदि इन्द्रियोंके अगोचर है, भोक्ता एवं भोग्यरूपसे विभक्त समष्टिव्यष्ट्यात्मक निखिल संसाररूप है, जो सत्य एवं असत्यरूप भी है अथवा मूर्तामूर्तरूप है, यानी उससे अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी सत्तासे ही सब सत्तावाले हैं, ऐसे संसारका कारण अज्ञानकी निवृत्तिरूप उस हरि भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

यस्मादन्यन्नास्त्यपि नैवं परमार्थं,
दृश्यादन्यो निर्विषयज्ञानमयत्वात् ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयविहीनोऽपि सदा ज्ञ-
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ ४ ॥

जिस सच्चिदानन्द विष्णु परमात्मासे अन्य (भिन्न) आकाशादि अनात्मवर्ग वस्तुगत्या नहीं है, इसलिये आकाशादि सभी पदार्थ, वास्तवमें-सत्य नहीं हैं, किन्तु प्रतीतिमात्र मिथ्या हैं। और वह विष्णु, निर्विषय निरतिशय विशुद्ध ज्ञान स्वरूप होनेके कारण दृश्य-

मान नामरूपात्मक जगत् से भिन्न है, असंग निर्विकार है। ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेयरूपी त्रिपुटीसे रहित होनेपर भी जो मायाशक्तिसे सदा सबको जानता है, ऐसे संसारका कारण अज्ञानके नाशक विष्णु-भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

आचार्येभ्यो लब्धसुसूक्ष्माच्युततत्त्वा,
वैराग्येणाभ्यासबलाच्चैव द्रढिम्ना।
भक्त्यैकाग्रध्यानपरा यं विदुरीशं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ ५ ॥

आचार्य-गुरुओंके अनुग्रहसे जिनने अविनाशी अतिसूक्ष्म विष्णुतत्त्वके पारमार्थिक स्वरूपको प्रत्यक्ष प्राप्त किया है। वैराग्य एवं अभ्यासके प्रभावसे तथा दृढ़ अनन्य भक्तिके बलसे जो उस तत्त्वके एकाग्रध्यानमें तत्पर हुए हैं, ऐसे महानुभाव ईश्वरके वास्तविक स्वरूपको 'हस्तामलकवत्' साक्षात् जानते हैं, ऐसे संसार-कारण अज्ञानके नाशक विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

प्राणानायम्योमिति चित्तं हृदि रुद्ध्वा,
नान्यत्स्मृत्वा तत्पुनरत्रैव विलाप्य।
क्षीणे चित्ते भादृशिरस्मीति विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ ६ ॥

योगीलोग, प्रथम अपनी चक्षुरादि इन्द्रियोंको अपने अपने शब्दादि विषयोंसे रोककर 'ॐ' ऐसे प्रणव मन्त्रका उच्चारण करते हुए संकल्प-विकल्परूप मनको हृदयमें यानी हृदयाकाशरूप ब्रह्ममें

स्थिर करते हैं, और पश्चात् अन्य किसी दृश्य-प्रपञ्चका स्मरण नहीं करते हुए उस मनको सुतरां व्यापक-ब्रह्मतत्त्वमें लीन कर देते हैं, फिर उस मनके क्षीण होने पर 'स्वप्रकाशविज्ञानघन विष्णु मैं ही हूँ' ऐसा दृढ़निश्चय करते है, ऐसे संसार-कारण अज्ञानके नाशक विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

यं ब्रह्माख्यं देवमनन्यं परिपूर्णं,
हृत्स्थं भक्तैर्लभ्यमजं सूक्ष्ममतर्क्यम् ।
ध्यात्वाऽऽत्मस्थं ब्रह्मविदो यं विदुरीशं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ ७ ॥

जिस तत्त्वको ब्रह्मवेत्ता महानुभाव स्वप्रकाश, अन्यवस्तु (द्वैत-प्रपञ्च) से रहित, तमाम देशकालमें परिपूर्ण, समस्त प्राणियोंके हृदयमें साक्षी द्रष्टारूपसे वर्तमान, प्रेमी-भक्तोंसे प्राप्त करने योग्य, जन्मरहित, सूक्ष्म यानी इन्द्रियोंके अगोचर, केवल तर्कोंसे नहीं जानने योग्य, ब्रह्मनामसे पुकारते हुए, अपने ही आत्मामें अभेद-रूपसे स्थित उस तत्त्वका ध्यान करते हुए अपरोक्षरूपसे जानते हैं, ऐसे संसार के कारण अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

मात्रातीतं स्वात्मविकाशात्मविबोधं,
ज्ञेयातीतं ज्ञानमयं हृद्युपलभ्यम् ।
भावग्राह्यानन्दमनन्यं च विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ ८ ॥

तत्त्वदर्शीमहानुभाव; चक्षुरादि इन्द्रियोंसे अतीत यानी उनसे अग्राह्य, आत्मस्वरूपके प्रकाशसे प्रकाशवाला शुद्ध-एकाग्र अन्तःकरण से लक्षणावृत्ति द्वारा जानने योग्य, शक्ति-वृत्तिसे जाननेके लिये अयोग्य, स्वयंप्रकाश-ज्ञानस्वरूप, सूक्ष्म संस्कृत-बुद्धिमें साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभवके योग्य, परम प्रेमरूपी भक्ति के द्वारा परमानन्द मयरूपसे ग्रहण करने योग्य अन्यभाव (द्वैतभाव) से रहित अखण्ड अद्वितीय, ऐसे आत्मस्वरूप श्रीविष्णुको जानते हैं, उस संसारका कारण अज्ञानरूप-अन्धकारके विनाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

यद्यद्वेद्यं वस्तु सतत्त्वं विषयाख्यं,
तत्तद् ब्रह्मैवेति विदित्वा तदहं च।
ध्यायन्त्येवं यं सनकाद्या मुनयोऽजं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥९॥

संसारमें जो जो विषयभूत दृश्य वस्तु हैं, वे सभी अस्ति-भाति-प्रियरूपसे अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप ही हैं, यानी उस दृश्य प्रपञ्चका ब्रह्मतत्त्वसे पृथक् अस्तित्व नहीं है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस प्रकार एक-अद्वय-अखण्डरूपसे ब्रह्मतत्त्वको जानकर 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसे-जन्मरहित व्यापक विष्णुतत्त्वका सनकादि मुनिवृन्द निरन्तर ध्यान करते हैं, उस संसारका कारण अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

यद्यद्वेद्यं तत्तदहं नेति विहाय,
स्वात्मज्योतिर्ज्ञानमयानन्दमवाप्य।

तस्मिन्नस्मीत्यात्मविदो यं विदुरीशं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१०॥

जो जो अहंकार आदि दृश्य पदार्थ हैं, वे सब स्वस्वरूपसे (नामरूपसे) कल्पित होनेके कारण मैं सत्य अधिष्ठान आत्मा नहीं हूँ, यानी उस दृश्य वस्तुसे मैं पृथक् हूँ, इस प्रकार मिथ्या दृश्य पदार्थोंका बाध करके, एवं स्वयंज्योति विज्ञानघन स्वस्वरूप-भूत विशुद्धानन्दका प्रत्यक्ष अनुभव करके, आत्मज्ञानी महानुभाव, त्वंपदलक्ष्यार्थ आत्माके विषयमें प्रत्यक्षरूपसे 'वह आत्मा मैं हूँ' इस प्रकार तत्पदलक्ष्यार्थ, ईश्वर स्वरूपको आत्मासे अभिन्न करके साक्षात् अनुभव करते हैं, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ।

हित्वा हित्वा दृश्यमशेषं सविकल्पं,
मत्वा शिष्टं भादृशिमात्रं गगनाभम् ।
त्यक्त्वा देहं यं प्रविशन्त्यच्युतभक्ता,
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥११॥

अखण्ड-अविनाशी-विष्णुतत्त्वके चिन्तन करनेवाले प्रेमी भक्त-वृन्द, समस्त, विकल्प विशिष्ट, दृश्य-द्वैत प्रपञ्चको अच्छी तरहसे छोड़कर तथा अबाधितरूपसे एवं सर्वनिषेधावधिरूपसे अवशिष्ट (बचा हुआ) स्वप्रकाश, ज्ञानमात्र, आकाशकी भाँति स्वच्छ, असंग तथा व्यापक विष्णु-तत्त्वको जानकर, शरीर छोड़नेके बाद जिस

विष्णु-तत्त्वमें अभेदरूपसे लीन हो जाते हैं। उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

सर्वत्रास्ते सर्वशरीरी न च सर्वः,
सर्वं वेत्त्येवेह न यं वेत्ति च सर्वः।
सर्वत्रान्तर्यामितयेत्थं यमयन्य-
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१२॥

जो विष्णु परमात्मा, पृथिवी आदि सभी वस्तुओंमें वर्तमान है, तमाम विश्व जिसका शरीर है, जो सर्वरूप होता हुआ भी पृथक् है, जो सबको अच्छीतरहसे जानता है, परन्तु उसको कोई जान नहीं सकता। जो सबका नियमन करता हुआ अन्तर्यामी रूपसे सब जगह वर्तमान है, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णुभगवान्की मैं स्तुति करता हूँ।

सर्वं दृष्ट्वा स्वात्मनि युक्त्या जगदेतद्,
दृष्ट्वात्मानं चैवमजं सर्वजनेषु।
सर्वात्मैकोऽस्मीति विदुर्यं जनहृत्स्थं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१३॥

इस निखिल विश्वको 'जड़ और चेतनका वस्तुगत्या कोई भी सम्बन्ध नहीं बन सकता' इत्यादि युक्तियोंसे अपने आत्मामें कल्पित जानकर और सर्वशरीरमें साक्षीरूपसे रहनेवाला, जन्मरहित एक ही आत्माका अनुभवकर, 'मैंही एक अखण्ड, अद्वितीय सर्वात्मा हूँ' इसप्रकार सर्वप्राणियोंकी बुद्धिमें सदा प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान विष्णु-

तत्त्वका विरक्त विद्वान् महानुभाव, अनुभव करते हैं। उस संसारके कारण अज्ञानका नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

सर्वत्रैकः पश्यति जिघ्रत्यथ भुङ्क्ते,
स्प्रष्टा श्रोता बुध्यति चेत्याहुरिमं यम् ।
साक्षी चास्ते कर्तृषु पश्यन्निति चान्ये,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१४॥

जो परमात्मा सर्वमें यानी ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त सर्व शरीरोंमें एकही वर्तमान है, वही परमात्मा, उपाधिके द्वारा देखता है, सूँघता है, खाता है, छूता है, सुनता है एवं जानता है, ऐसा अनुभवी विद्वान् लोग कहते हैं। तथा दूसरे विवेकी महानुभाव, वह परमात्मा शरीर इन्द्रिय आदिको प्रकाशित करता हुआ केवल साक्षी-द्रष्टा अकर्ता एवं अभोक्ता है, ऐसा कहते हैं। उस सांसारिक अज्ञानका विनाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

पश्यन् शृण्वन्नत्र विजानन् रसयन् सन्,
जिघ्रन् बिभ्रद्देहमिमं जीवतयेत्थम् ।
इत्यात्मानं यं विदुरीशं विषयज्ञं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१५॥

भौतिक शरीरोंमें जीवरूपसे प्रवेश करके एवं उन शरीरोंको धारण करके जो परमात्मा इस संसारमें चक्षुसे देखता हुआ, कानसे सुनता हुआ, जीभसे रस ग्रहण करता हुआ, नाकसे सूँघता हुआ और बुद्धिसे निश्चय करता हुआ, संसारके विविध धर्मोंका अनुभव

करता है। इस प्रकार शब्दादि विषयोंका जाननेवाला जिस आत्मा को विद्वान् लोग ईश्वररूपसे जानते हैं। उस संसारके कारण अज्ञान का नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

जाग्रद् दृष्ट्वा स्थूलपदार्थानथ मायां,
दृष्ट्वा स्वप्नेऽथापि सुषुप्तौ सुखनिद्राम्।
इत्यात्मानं वीक्ष्य मुदास्ते च तुरीये,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१६॥

जो आत्मा, जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल-पदार्थोंको देखता है, स्वप्न में, निद्रारूपमायानिर्मित कल्पित हाथी, घोड़े आदि पदार्थोंको देखता है, सुषुप्ति अवस्थामें सुखयुक्त अज्ञाननिद्राका अनुभव करता है, तुरीय (समाधि) अवस्थामें अपने विशुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार करके आनन्दित एवं कृतकृत्य होता है, उस संसारके अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाले आत्मस्वरूप विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

पश्यन् शुद्धोऽप्यक्षर एको गुणभेदान्,
नानाकारान् स्फाटिकवद्भाति विचित्रः।
भिन्नश्छिन्नश्चायमजः कर्मफलैर्यः,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१७॥

जो आत्मा, स्वतः सकल सांसारिक-धर्मोंसे रहित, अविनाशी, स्वयंप्रकाश एक अद्वितीय स्वरूप है, तथापि वह सत्त्व, रज एवं तमोगुणके परिणाम-विशेषरूप उपाधियोंके द्वारा देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक रूपोंको धारण करता है, और कर्मोंके फलरूप

सुख-दुःखोंके साथ कल्पित-तादात्म्य सम्बन्धद्वारा स्फटिककी तरह
* चित्र-विचित्र यानी सुखी दुःखी, राजा रङ्क आदि अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है, उस संसारके अज्ञानरूपी अन्धकारकी निवृत्ति करनेवाले आत्मस्वरूप विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

ब्रह्माविष्णू रुद्रहुताशौ रविचन्द्रा,
विन्द्रो वायुर्यज्ञ इतीत्थं परिकल्प्य।
एकं सन्तं यं बहुधाहुर्मतिभेदात्,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१८॥

विद्वान् लोग, जिस एकही परमात्माकी ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अग्नि, सूर्य, चन्द्र इन्द्र, पवन, यज्ञ आदि अनेकरूपोंसे कल्पना करके बुद्धिकी विचित्रतासे यानी उपासकोंकी रुचिभेदसे एक ही तत्त्वका अनेक प्रकारसे एवं अनेक नामोंसे निरूपण करते हैं, उस संसारके जीवोंके अज्ञानका नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

सत्यं ज्ञानं शुद्धमनन्तं व्यतिरिक्तं,
शान्तं गूढं निष्कलमानन्दमनन्यम्।
इत्याहादौ यं वरुणोऽसौ भृगवेऽजं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥१९॥

---

* जैसे एक ही स्वच्छ स्फटिक (बिल्लोर) रङ्गविरङ्ग अनेक पुष्पोंके सन्निधानसे चित्रविचित्र एवं अनेककी तरह मालूम होता है, तद्वत् एक ही शुद्ध-आत्मा, अन्तःकरण आदि उपाधियोंके सम्बन्धसे विचित्र एवं अनेककी तरह भासित होता है।

जिस तत्त्वका-सत्यस्वरूप यानी भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालमें एकरस, ज्ञानस्वरूप, अनन्त यानी त्रिविध परिच्छेद शून्य, पंचकोशसे भिन्न, शान्त स्वरूप यानी जन्ममरणादि एवं रागद्वेषादि तमाम विक्षेपोंसे रहित, गूढ़ यानी मनवाणीका अविषय, अवयवोंसे रहित, आनन्दस्वरूप, द्वैतरहित इत्यादि प्रकारसे तैत्तिरीय-उपनिषद् की आनन्द नामकी प्रथमवल्लीमें वरुणनामक ऋषिने, भृगुनामक अपने पुत्रको उपदेश किया था। उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले अजन्मा विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

कोशानेतान्पञ्चरसादीनतिहाय,
ब्रह्मास्मीति स्वात्मनि निश्चित्य दृशिस्थः।
पित्रादिष्टो वेद भृगुर्यं यजुरन्ते,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२०॥

अपने पिता वरुण ऋषिके किये हुए तैत्तिरीय-उपनिषद्के उपदेशको सुनकर भृगुने विष्णु-तत्त्वको यथार्थ रीतिसे समझा। और वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, तथा आनन्दमय, इन पांच कोशोंको आत्मासे पृथक्-मिथ्या जानकर एवं उनसे विष्णु स्वरूप आत्माको पृथक् असंग जानकर, 'मैं ही ब्रह्म:हूँ' इस प्रकार दृढ निश्चय करके प्रकाश ज्ञानस्वरूप स्वात्मामें स्थिर हुआ। उस संसारके कारण अज्ञानका नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

येनाविष्टो यस्य च शक्त्या यदधीनः,
क्षेत्रज्ञोऽयं कारयिता जन्तुषु कर्तुः ।
कर्ता भोक्ताऽऽत्मात्र हि चिच्छक्त्याधिरूढः,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२१॥

जिस तत्त्वसे युक्त होकर, एवं जिस तत्त्वकी शक्तिद्वारा, और जिस तत्त्वके अधीन हुआ यह क्षेत्रज्ञ (शरीरको जाननेवाला) जीव, सब शरीरोंमें विविध कार्यको करनेवाले अन्तःकरणको करानेवाला यानी प्रेरक-नियन्ता होता है। और जिस विष्णु-तत्त्वकी मायारूप-शक्तिसे युक्त होकर यह जीव, कर्ताभोक्तारूपसे संसारमें प्रसिद्ध होता है। उस सांसारके कारण अज्ञानको नष्ट करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

सृष्ट्वा सर्वं स्वात्मतयैवेत्थमतर्क्यं,
व्याप्याथान्तः कृत्स्नमिदं सृष्टमशेषम् ।
सच्च त्यच्चाभूत् परमात्मा स य एकः,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२२॥

जो परमात्मा एक अद्वितीय यानी सर्वजीवाभिन्न है, जिसने अनिर्वचनीय घटपट आदि समस्त संसारको संकल्पमात्रसे उत्पन्न करके पश्चात् उत्पन्न किये हुए इस निखिल संसारके भीतर, स्वस्वरूपसे व्याप्त होकर जो वर्तमान है। तथा जो पृथ्वी, जल एवं तेजरूपसे प्रत्यक्ष और वायु एवं आकाशरूपसे परोक्ष हुआ है। उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

वेदान्तैश्चाध्यात्मिकशास्त्रैश्च पुराणैः,
शास्त्रैश्चान्यैः सात्वततन्त्रैश्च यमीशम् ।
दृष्ट्वाऽथान्तश्चेतसि बुद्ध्वा विविशुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२३॥

कोई-कोई महानुभाव उपनिषदोंका, सांख्यादि आध्यात्मिक शास्त्रोंका, भागवत आदि पुराणोंका, नारदपांचरात्र आदि वैष्णव-तन्त्रोंका, एवं अन्यान्य धर्मशास्त्रोंका गुरुओंके द्वारा श्रवण मनन करके जिस परमात्माको जान सके हैं, और पश्चात् चित्तमें 'वह परमात्मा मैं हूँ' ऐसा साक्षात् स्वस्वरूपका अनुभव करके वे महानुभाव उस परमात्मामें अभेदरूपसे जलमें जलकी तरह समा गये हैं । उस संसारके कारण अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ।

श्रद्धाभक्तिध्यानशमाद्यैर्यतमानै,
र्ज्ञातुं शक्यो देव ! इहैवाशु य ईशः ।
दुर्विज्ञेयो जन्मशतैश्चापि विना तै,
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२४॥

श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और शम आदि साधनोंके द्वारा आत्मज्ञान प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाले मुमुक्षुओंसे जो स्वप्रकाश परमेश्वर शीघ्र ही प्रत्यक्ष जाननेके लिये शक्य है । श्रद्धा आदि साधनोंके बिना जिसका साक्षात्कार सैकड़ों जन्मोंमें भी नहीं हो सकता है; उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ।

यस्यातर्क्यं स्वात्मविभूतेः परमार्थं,
सर्वं खल्वित्यत्र निरुक्तं श्रुतिविद्भिः ।
तज्जादित्वादब्धितरंगाभमभिन्नं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२५॥

जो स्वयं वास्तवमें एक-अद्वय होता हुआ भी मायासे अनेक-रूप होकर भासता है, जिसका परमार्थस्वरूप तर्कोंसे अगम्य है, 'यह जगत् निश्चय करके ब्रह्मरूप ही है' इस अर्थको बतलानेवाली 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिमें परमेश्वरके व्यापकस्वरूपका श्रुतियोंके रहस्यको जाननेवाले आचार्योंने निरूपण किया है। उस ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण, यह समस्त जगत् 'समुद्रके तरङ्गोंके समान' उस ब्रह्मसे अभिन्न ही है, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले बिष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

दृष्ट्वा गीतास्वक्षरतत्त्वं विधिनाऽजं,
भक्त्या गुर्व्या लभ्य हृदिस्थं दृशिमात्रम् ।
ध्यात्वा तस्मिन्नस्म्यहमित्यत्र विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२६॥

'अक्षरं ब्रह्म परमं' (गी० ८।३) इत्यादि श्रीमद्भगवद्गीताके वाक्योंसे अजन्मा व्यापक ब्रह्मके स्वरूपको विधिपूर्वक आचार्य गुरुओंके द्वारा जानकर, सबके हृदयमें साक्षीरूपसे स्थित, स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वका महती यानी अनन्य भक्तिके द्वारा साक्षात करके मुमुक्षु-महोदय, अक्षर ब्रह्मके साथ जगत् एवं जीवका अभेद-

रूपसे चिन्तन करके 'वह प्रत्यक् आत्मासे अभिन्न ब्रह्म मैं ही हूँ' इस ज्ञानसे जिस तत्त्वको जानते हैं; उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

क्षेत्रज्ञत्वं प्राप्य विभुः पञ्चमुखैर्यो,
भुङ्क्तेऽजस्रं भोग्यपदार्थान् प्रकृतिस्थः।
क्षेत्रे क्षेत्रेऽप्स्विन्दुवदेको बहुधाऽऽस्ते,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२७॥

जो व्यापक परमात्मा, मायामें प्रतिबिम्बरूपसे जीव-भावको प्राप्त होकर चक्षुरादि पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे शब्दादिके विषयोंका सदा अनुभव करता है। जैसे अनेक बरतनोंमें भरे हुए जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्र, बिम्बरूपसे एक होता हुआ भी अनेकरूपसे प्रतीत होता है; तद्वत् प्रत्येक शरीरमें वर्तमान अन्तःकरण आदि उपाधियोंके सम्बन्धसे परमार्थमें एक होता हुआ भी आत्मा अनेककी तरह भासता है, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

युक्त्यालोड्य व्यासवचांस्यत्र हि लभ्यः,
क्षेत्रक्षेत्रज्ञान्तरविद्भिः पुरुषाख्यः।
योऽहं सोऽसौ सोऽस्म्यहमेवेति विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२८॥

श्रीवेदव्यासजीके बनाये हुए वेदान्त (उत्तरमीमाँसा) सूत्रोंका अच्छी तरहसे विचार करके, अबाधित-तर्कोंके द्वारा क्षेत्र यानी शरीर,

क्षेत्रज्ञ यानी आत्मा इन दोनोंको पृथक्-पृथक् जानकर जिज्ञासुजन, इस शरीरमें ही पूर्णस्वरूप पुरुष नामक परमात्माको साक्षीरूपसे अनुभव करते हैं। 'जो मैं हूँ वह परमेश्वर है, और जो परमेश्वर है वह मैं हूँ' इस तरहसे जिस अद्वैत तत्त्वका प्रत्यक्ष-साक्षात्कार करते हैं। उस संसारके कारणभूत अज्ञानकी निवृत्तिरूप विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

एकीकृत्यानेकशरीरस्थमिमं ज्ञं,
यं विज्ञायेहैव स एवाशु भवन्ति।
यस्मिल्लीना नेह पुनर्जन्म लभन्ते,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥२९॥

अनेक शरीरोंमें स्थित, इस चेतन आत्माको व्यापक परमात्मा से अभिन्न जानकर, तथा उस ब्रह्मात्मतत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार करके विद्वान् लोग इस शरीरमें ही परमात्मा स्वरूप हो जाते हैं, इसप्रकार शरीरादि उपाधिको छोड़कर जिस परमात्माके साथ एकताको प्राप्त हुए जीव, फिर इस दुःखमय संसारमें जन्म नहीं ग्रहण करते हैं, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

द्वन्द्वैकत्वं यच्च मधु-ब्राह्मणवाक्यैः,
कृत्वा शक्रोपासनमासाद्य विभूत्या।
योऽसौ सोऽहं सोऽस्म्यहमेवेति विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३०॥

बृहदारण्यक उपनिषद्के चतुर्थाध्यायस्थ मधु-ब्राह्मणवाक्योंसे जो द्वन्द्वोंकी यानी पृथिवी और शरीर, अग्नि और वाणी आदिकोंकी एकता कही है, उस एकताको ग्रहण करके सर्वात्म-ईश्वरभावकी प्राप्तिरूप विभूतिसे इन्द्रके द्वारा की गयी अपनी उपासनाको पाकर, जिज्ञासुलोग 'जो परमेश्वर है वह मैं हूँ, और जो मैं हूँ वह परमेश्वर है' इस विधिसे जिस परमेश्वरको अभेदरूपसे जानते हैं। उस सांसारिक जीवोंके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

योऽयं देहे चेष्टयिताऽन्तःकरणस्थः,
सूर्ये चासौ तापयिता सोऽस्म्यहमेव।
इत्यात्मैक्योपासनया यं विदुरीशं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३१॥

जो यह अन्तःकरणरूपी उपाधिसे उपहित चेतन आत्मा शरीरमें रहकर चेष्टा करता है, और जो सूर्य-मण्डलमें रहकर संसारको ताप यानी गर्मी देता है, वह मैं ही हूँ; इसप्रकार आत्माकी एकता के दृढ़ अनुसंधानसे महात्मालोग जिस अद्वितीय ईश्वरतत्त्वको जानते हैं, उस संसारके कारण अज्ञानका नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

विज्ञानांशो यस्य सतः शक्त्यधिरूढो,
बुद्धिर्बुध्यत्यत्र बहिर्बोध्यपदार्थान्।

नैवान्तःस्थं बुध्यति यं बोधयितारं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३२॥

जिस परमार्थस्वरूप परमेश्वरके स्वरूपभूत अंशके समान, अविद्यारूपी शक्तिमें प्रतिबिम्बित जीव, बाहर एवं भीतरके पदार्थों (बुद्धि और बुद्धिके सुख-दुःखादि धर्म एवं घटपट आदि) को इस संसारमें जानता है; परन्तु सबको जाननेवाला, अपने भीतर साक्षीरूपसे स्थित, सर्वज्ञ, चेतन, ईश्वरको बुद्धि कदापि नहीं जान सकती है। उस संसारके कारणभूत अज्ञानके नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

कोऽयं देहे देव इतीत्थं सुविचार्य,
ज्ञाता श्रोतानन्दयिता चैष हि देवः।
इत्यालोच्य ज्ञांश इहास्मीति विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३३॥

इस शरीरमें आत्मदेव कौन है? यानी क्या शरीर आत्मा है? या इन्द्रियाँ आत्मा हैं? या प्राण आत्मा है? इत्यादि आत्म-निर्णय के सम्बन्धमें अच्छी तरह विचार करके अर्थात् देहादि कार्यकरण सङ्घात, जड़, दृश्य, परिच्छिन्न एवं आद्यन्तशून्य होनेके कारण घटादि की तरह आत्मा नहीं हो सकता, किन्तु इस समुदायसे भिन्न ही कोई ज्ञाता आत्मा है, ऐसा अनुमानके द्वारा निश्चय करके जो सबको जाननेवाला, सुननेवाला एवं आनन्दका अनुभव करने-वाला स्वप्रकाश चेतन है, वही स्वस्वरूप आत्मा है; ऐसा अनुसन्धान

करके इस कार्य-करण सङ्घातके बीचमें जो व्यापक विष्णुका चेतन अंश है, वही मैं हूँ, इस प्रकार विवेकादि साधन सम्पन्न महानुभाव निश्चय करते हैं। उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

को ह्येवान्यादात्मनि न स्यादयमेष,
ह्येवानन्दः प्राणिति चापानिति चेति।
इत्यस्तित्वं वक्त्युपपत्त्या श्रुतिरेषा,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३४॥

यदि इस शरीरमें यह प्रत्यक्ष-सिद्ध चेतन आत्मा न होता तो कोई भी प्राणी जिन्दा नहीं रह सकता था, क्योंकि जड़समुदाय चेतन-सत्ताके बिना कुछ कामही नहीं कर सकता है; इसलिये यह मानना होगा कि-आनन्दरूप परमात्मा ही अविद्यासे जीव-भावको प्राप्त होकर श्वास-प्रश्वास लेता है, एवं अपान-क्रियाको भी करता है, इस प्रकार 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति' यह तैत्तिरीय श्रुति युक्ति-पूर्वक जिस आत्म-सत्ताको प्रतिपादन करती है, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

प्राणो वाऽहं वाक्श्रवणादीनि मनो वा,
बुद्धिर्वाऽहं व्यस्त उताहोऽपि समस्तः।
इत्यालोच्य ज्ञप्तिरिहास्मीति विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३५॥

मैं प्राण हूँ या मुख-कान-नाक आदि इन्द्रियरूप हूँ, या मनरूप हूँ, या बुद्धिरूप हूँ, या इन प्राणादियोंके समुदायरूप हूँ, या इनमेंसे प्रत्येक स्वरूप हूँ, इत्यादि विचार करके इन सबका निषेध करनेके बाद 'ज्ञानस्वरूप व्यापक विष्णु ही मैं हूँ' इसप्रकार इस जन्ममें ही भक्तलोग जिस विष्णुतत्त्वको प्रत्यक्ष आत्मरूपसे जानते हैं, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहं,
नाहं बुद्धिर्नाहमहंकारधियौ च।
योऽत्र ज्ञांशः सोऽस्म्यहमेवेति विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३६॥

मैं चेतन द्रष्टा, अपरिच्छिन्न, जड़ दृश्य एवं परिच्छिन्न होनेके कारण प्राण नहीं हूँ, शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, न मैं बुद्धि हूँ, और न मैं अहंकार तथा चित्त ही हूँ; किन्तु इस जड कार्यकरण समुदायमें जो विष्णुतत्त्वका ज्ञानस्वरूप सनातन अंश है, वही मैं हूँ। इस प्रकारसे जिज्ञासुलोग जिस तत्त्वको जानते हैं, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले श्रीविष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

सत्तामात्रं केवलविज्ञानमजं सत्,
सूक्ष्मं नित्यं तत्त्वमसीत्यात्मसुताय।
साम्नामन्ते प्राह पिता यं विभुमाद्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३७॥

केवल सत्तास्वरूप, विशुद्ध विज्ञानस्वरूप, जन्मरहित, सत्य-सनातन, सूक्ष्म यानी इन्द्रियोंसे अग्राह्य, नाशरहित, सर्वव्यापक, सब का आदि कारण जो विष्णुतत्त्व है, उसका सामवेदके अन्तिम भागमें स्थित छान्दोग्योपनिषत्में उद्दालक ऋषिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको 'हे श्वेतकेतु! वह विष्णु तू है', इस प्रकार नव वार पुनःपुनः उपदेश किया है, उस सांसारिक जीवोंके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

मूर्तामूर्ते पूर्वमपोह्याथ समाधौ, *
दृश्यं सर्वं नेति च नेतीति विहाय।
चैतन्यांशे स्वात्मनि सन्तं च विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३८॥

चेतनके अंशरूप जीवसे अभिन्न अधिष्ठानतत्त्व विष्णुमें मूर्त एवं अमूर्त भूतोंका यानी पृथ्वी, जल एवं तेज अपरोक्ष और वायु एवं आकाश परोक्ष भूतोंका 'नेति नेति' यानी यह नहीं है, यह नहीं है, अर्थात् विशुद्ध विष्णुतत्त्वमें स्थूल-प्रपञ्च एवं सूक्ष्म-प्रपञ्च नहीं है। इस प्रकार द्वैतप्रपञ्चरूप जगत् का निषेध करके अवधिरूप से परिशिष्ट जिस तत्त्वको विद्वान् लोग जानते हैं, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णुभगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

---

* **'समाधीयते चित्तमस्मिन्निति समाधिर्विष्णुः'** अर्थात् जिसमें चित्त एकाग्र किया जाता है, उसका नाम समाधि है। इस व्युत्पत्तिसे समाधि शब्दका अर्थ विष्णु भगवान् है।

ओतं प्रोतं यत्र च सर्वं गगनान्तं,
योऽस्थूलानण्वादिषु सिद्धोऽक्षरसंज्ञः ।
ज्ञाताऽतोऽन्यो नेत्युपलभ्यो न च वेद्य-
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥३९॥

जिस व्यापक विष्णु परमात्मामें परमाणुसे लेकर आकाशपर्यन्त सब जगत् ओतप्रोत है, यानी सूतमें वस्त्रकी तरह कल्पित है। और जो परमात्मा 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घं' (यानी वह ब्रह्म स्थूल-मोटा नहीं है, अणु-पतला नहीं है, ह्रस्व-छोटा नहीं है, दीर्घ-लम्बा नहीं है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें व्यापक होनेसे या अविनाशी होनेसे अक्षर‡ नाम से प्रसिद्ध है। इसलिये समस्त पदार्थोंका ज्ञाता अक्षर-ब्रह्मसे भिन्न और कुछ भी उपलब्ध नहीं है और यह अक्षरब्रह्म इन्द्रियोंका विषय भी नहीं है, उस संसारके अज्ञानको नाश करने-वाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

तावत्सर्वं सत्यमिवाभाति यदेत-
द्यावत्सोऽस्मीत्यात्मनि यो ज्ञो नहि दृष्टः ।
दृष्टे तस्मिन् सर्वमसत्यं भवतीदं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥४०॥

इस कार्यकरण सङ्घातमें जो अधिष्ठान चेतन है, वह मैं हूँ, इस प्रकारका आत्मज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक यह समस्त

---

‡ 'अश्नुते व्याप्नोतीति, न क्षरतीत्यक्षरः' इस व्युत्पत्तिसे अक्षर शब्दका व्यापक एवं अविनाशी अर्थ होता है।

नामरूपात्मक-जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है, । औ रजब जीवाभिन्न ब्रह्मात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है, तब यह समस्त संसार मिथ्या प्रतीत होता है यानी प्रथम भी जगत् मिथ्या ही था, तथापि आत्माके अज्ञानसे मिथ्या नहीं भासता था, आत्म-ज्ञान होनेके बाद निःसंदेह यह जगत् स्वप्नवत् मिथ्या जान पड़ता है । उस कल्पित संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ।

रागामुक्तं लोहयुतं हेम यथाऽग्नौ,
योगाष्टाङ्गैरुज्ज्वलितज्ञानमयाग्नौ ।
दग्ध्वात्मानं ज्ञं परिशिष्टं च विदुर्यं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥४१॥

जैसे लोहा आदि अन्यधातु-मिश्रित सुवर्णको आगमें तपाकर शुद्ध किया जाता है, तद्वत् राग-द्वेषादि दोषोंसे युक्त आत्माको योगके यम-नियमादि आठ अङ्गोंसे प्रदीप्त की हुई आत्मज्ञानरूपी अग्निमें तपाकर यानी विचारद्वारा शुद्धकर शरीर इन्द्रिय आदिसे पृथक् अवशिष्ट (सर्वनिषेधावधिरूपसे बचे हुए) शुद्ध सच्चिदानन्दरूप विष्णु-तत्त्वको विरक्त विद्वान् लोग जानते हैं, उस संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ।

यं विज्ञानज्योतिषमाद्यं सुविभान्तं,
हृद्यर्केन्द्वग्न्योकसमीड्यं तडिदाभम् ।

भक्त्याराध्येहैव विशन्त्यात्मनि सन्तं,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥४२॥

जो विष्णुतत्त्व सबके हृदयमें साक्षीरूपसे वर्तमान है, बिजली के समान तेजस्वी है, स्वयंज्योति-विज्ञानस्वरूप है, सबका आदि कारण है, सुन्दर-प्रकाशरूप है, सूर्य चन्द्र और अग्निरूपी स्थानमें उपासनाके द्वारा साक्षात् करने योग्य है, एवं स्तुति करने योग्य है, ऐसे अपने आत्मस्वरूप विष्णुतत्त्वमें भक्तिरूपी आराधनाके द्वारा भक्तगण प्रवेशकर तद्रूप हो जाते हैं। उस संसारके कारण अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान्की मैं स्तुति करता हूँ।

पायाद्भक्तं स्वात्मनि सन्तं पुरुषं यो,
भक्त्या स्तौतीत्याङ्गिरसं विष्णुरिमं माम्।
इत्यात्मानं स्वात्मनि संहृत्य सदैक-
स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥४३॥

जो विष्णुभक्त अपने स्वस्वरूपमें स्थित हैं 'मैं विष्णु ही हूँ' इस अभेदज्ञानसे युक्त हैं, स्वस्वरूपभूत विष्णुतत्त्वमें अपने मनको रोककर समस्त अङ्गोंके सारभूत विष्णुतत्त्वकी भक्तिपूर्वक स्तुति करते हैं, ऐसे भक्तजनोंकी विष्णु भगवान् सदा रक्षा करते हैं, उस सदा एक-अद्वय संसारके अज्ञानको नाश करनेवाले विष्णु भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

इत्थं स्तोत्रं भक्तजनेड्यं भवभीति-
ध्वान्तार्काभं भगवत्पादीयमिदं यः।

विष्णोर्लोकं पठति शृणोति व्रजति ज्ञो,
ज्ञानं ज्ञेयं स्वात्मनि चाप्नोति मनुष्यः ॥४४॥

जो मनुष्य, उपरोक्त प्रकारसे भक्तजनोंसे स्तुति करने योग्य, संसारके भयरूपी अन्धकारको दूर करनेमें सूर्यके समान, भगवत्पाद-आचार्य श्रीशङ्करस्वामी प्रणीत इस 'हरिमीडे' स्तोत्रका पाठ करता है, या दूसरेके मुखसे सुनता है, वह विष्णुभगवान् के परमधामको प्राप्त होता है; और पश्चात् मुक्त हो जाता है। तथा जो मनुष्य, इस स्तोत्रके अर्थका अनुसन्धान करता है, वह अपने ही आत्मामें विष्णुतत्त्वका साक्षात्कार कर, उस तत्त्वको अभेदरूपसे प्राप्त करता है, यानी वह स्वयं परिपूर्ण आनन्दस्वरूप विष्णु ही हो जाता है।

॥ इति हरिमीडे स्तोत्रंसमाप्तम् ॥

प्रश्नोत्तररत्नमालिका

कः खलु नालंक्रियते, दृष्टादृष्टार्थसाधनपटीयान् ।
अमुया कण्ठस्थितया, प्रश्नोत्तररत्नमालिकया ॥ १ ॥

प्रश्न

हे गुरुदेव ! कण्ठमें की हुई इस प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकासे कौन शोभाको नहीं पाता है ?

उत्तर

इसलोक एवं परलोकके विषयभोगोंके साधनमें कुशल मनुष्य अर्थात् संसारविषयभोगासक्त मनुष्य आत्मकल्याणमय सदुपदेश धारण नहीं कर सकता ।

भगवन् ! किमुपादेयं गुरुवचनं हेयमपि च किमकार्यम् ।
को गुरुरधिगततत्त्वः, शिष्यहितायोद्यतः सततम् ॥ २ ॥

प्र:–हे भगवन् ! उपादेय (ग्रहणकरने योग्य) क्या है ?
उ:–गुरुका वचन ।
प्र:–हेय (त्याग करने योग्य) क्या है ? उ:–बुरा कर्म ।
प्र:–गुरु कौन है ?
उ:–जिसने परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करलिया है, एवं जो शिष्योंके कल्याणके लिये निरन्तर यत्नशील रहता है, वह गुरु है ।

त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषां संसारसंततिच्छेदः ।
किं मोक्षतरोर्बीजं सम्यग्ज्ञानं क्रियासिद्धम् ॥ ३ ॥

प्र:–विद्वानोंको अतिशीघ्र क्या करना चाहिये ?
उ:–संसारके जन्म-मरणरूपी प्रवाहका उच्छेद (विनाश) ।
प्र:–मोक्षरूपी वृक्षका बीज क्या है ?
उ:–निष्ठा (धारणा) से युक्त यथार्थ आत्मज्ञान ।

कः पथ्यतरो धर्मः कः शुचिरिह यस्य मानसं शुद्धम् ।
कः पण्डितो विवेकी किं विषमवधीरणा गुरुषु ॥ ४ ॥

प्र:–अतिशय पथ्य (पालने योग्य) क्या है ? उ:–सनातनधर्म ।
प्र:–इस लोकमें पवित्र कौन है ? उ:–जिसका मन शुद्ध है ।
प्र:–पण्डित कौन है ? उ:–जो सत् और असत् का विवेकी है ।
प्र:–विष क्या है ? उ:–गुरुओंमें अश्रद्धारूपी तिरस्कार ।

किं संसारे सारं बहुशोऽपि विचिन्त्यमानमिदमेव ।
किं मनुजेष्विष्टतमं स्वपरहितायोद्यतं जन्म ॥ ५ ॥

प्रः—इस असार संसारमें सार क्या है ?

उः—बार बार चिन्तन किया हुआ परमात्मतत्त्व ।

प्रः—मनुष्योंसे अतिशय करके अभिलषित क्या है ?

उः—अपना और अन्यका कल्याणके लिये सदा प्रयत्नशील जीवन ।

मदिरेव मोहजनकः कः स्नेहः के च दस्यवो विषयाः ।
का भववल्ली तृष्णा को वैरी यस्त्वनुद्योगः ॥ ६ ॥

प्रः—मदिराकी तरह अचेतन-विमूढ करनेवाला कौन है ?

उः—शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादिमें स्नेह ।

प्रः—शत्रु कौन हैं ? उः—शब्दादि पांच विषय ।

प्रः—संसारकी जड़ क्या है ? उः—तृष्णा ।

प्रः—वैरी कौन है ? उः—अपने कल्याणके लिये पुरुषार्थ न करनेवाला ।

कस्माद्भयमिह मरणादीशादिह को विशिष्यतेऽरागी ।
कः शूरो यो ललनालोचनबाणैर्न च व्यथितः ॥ ७ ॥

प्र—ःकिससे भय रखना चाहिये ? उः—मरणसे एवं ईश्वरसे ।

प्रः—इस संसारमें श्रेष्ठ कौन है ? उः—विरक्त महात्मा ।

प्रः—शूर वीर कौन है ?

उः—जो स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे व्यथाको प्राप्त न हो ।

पातुं कर्णाञ्जलिभिः किममृतमिह युज्यते सदुपदेशः ।
किं गुरुताया मूलं यदेतदप्रार्थनं नाम ॥ ८ ॥

प्रः--कौन कानरूपी अञ्जलिसे पान करने योग्य अमृत है ?

उः--यथार्थ उपदेश ।

प्रः--बड़प्पनकी जड़ क्या है ? उः--किसीसे कुछ भी न मांगना ।

किं गहनं स्त्रीचरितं कश्चतुरो यो न खण्डितस्तेन ।
किं दुःखमसन्तोषः किं लाघवमधमतो याञ्चा ॥ ९ ॥

प्रः--गहन (जाननेके लिये असंभव) क्या है ?

उः--स्त्रियोंका चरित्र ।

प्रः--चतुर (कुशल) कौन है ?

उः--जो स्त्रियोंसे खण्डित नहीं हुआ है ।

प्रः--दुःख क्या है ? उः--असंतोष ।

प्रः--छोटापन क्या है ? उः--अधम-संसारियोंसे याचना करना ।

किं जीवितमनवद्यं किं जाड्यं पाठतोऽप्यनभ्यासः ।
को जागर्ति विवेकी का निद्रा मूढता जन्तोः ॥१०॥

प्रः--जीवन क्या है ? उः--दोषरहित ।

प्रः--जड़पना क्या है ? उः--पढ़ लेनेपर भी अभ्यास न करना ।

प्रः--जागता कौन है ? उः--विवेकी ।

प्रः--प्राणीकी निद्रा क्या है ? उः--मूढपना ।

नलिनीदलगतजलवत्तरलं किं यौवनं धनं चायुः ।
कथय पुनः के शशिनः किरणसमाः सज्जना एव ॥११॥

प्रः--कमलके पत्तेके ऊपर रहे हुए जलकी तरह चंचल कौन है ?

उः--यौवन, धन और आयु ।

प्रः--चन्द्रमाकी किरणोंके समान शीतल एवं शान्त कौन हैं ?

उः--सज्जन महापुरुष।

को नरकः परवशता किं सौख्यं सर्वसंगविरतिर्या।
किं सत्यं भूतहितं प्रियं च किं प्राणिनामसवः ॥१२॥

प्रः--नरक क्या है ? उः--परतन्त्रता।

प्रः--सुख क्या है ? उः--संसारकी तमाम आसक्तियोंसे वैराग्य होना।

प्रः--सत्य क्या है ? उः--जिससे तमाम प्राणियोंका कल्याण हो।

प्रः--प्राणियोंको प्रिय क्या है ? उः--प्राण या प्राण-प्रेरक आत्मा।

कोऽनर्थफलो मानः का सुखदा साधुजनमैत्री।
सर्वव्यसनविनाशे को दक्षः सर्वथा त्यागी ॥१३॥

प्रः--अनर्थ फलवाला कौन है ? उः--(अभि)मान।

प्रः--सुख देनेवाली कौन है ? उः--साधु पुरुषोंके साथ मित्रता।

प्रः--सब प्रकारके कामादि व्यसनोंके नाश करनेमें कौन कुशल है ?

उः--जो हर प्रकारसे त्यागी है।

किं मरणं मूर्खत्वं किं चानर्घं यदवसरे दत्तम्।
आमरणात्किं शल्यं प्रच्छन्नं यत्कृतं पापम् ॥१४॥

प्रः--मरण क्या है ? उः--मूर्खपना।

प्रः--अमूल्य क्या है ?

उः--समय पर योग्य अधिकारीको शक्ति-अनुसार कुछ दिया जाय।

प्रः--मरण पर्यन्त शूलकी तरह चुभनेवाला कौन है ?

उः--छिपकर किया हुआ पापकर्म।

कुत्र विधेयो यत्नो विद्याभ्यासे सदौषधे दाने।
अवधीरणा क्व कार्या खलपरयोषित्परधनेषु ॥१५॥

प्रः—कहाँ प्रयत्न करना चाहिये ?

उः—विद्याभ्यासमें, सच्ची औषधिमें एवं सत्पात्रके दानमें।

प्रः—उपेक्षा कहाँ करनी चाहिये ?

उः—खल (दुष्ट) मनुष्योंमें, पराई स्त्रियोंमें तथा अन्यके धनमें।

काऽहर्निशमनुचिन्त्या संसारासारता न तु प्रमदा।
का प्रेयसी विधेया करुणा दीनेषु सज्जने मैत्री ॥१६॥

प्रः—दिनरात चिन्तन करने योग्य क्या है ? उः—संसारकी असारता।

प्रः--कौन चिन्तन करने योग्य नहीं है ? उः--स्त्री।

प्रः--आनन्द करनेवाली कौन है ?

उः--दीन-दुःखियोंके ऊपर की हुई करुणा (दया) और सज्जन महापुरुषोंके साथ की हुई मित्रता।

कण्ठगतैरप्यसुभिः कस्य ह्यात्मा न शक्यते जेतुम्।
मूर्खस्य शंकितस्य च विषादिनो वा कृतघ्नस्य ॥१७॥

प्रः--कण्ठगत प्राण होनेपर भी किसके मनका जय नहीं कर सकते हैं ?

उः--मूर्ख, संशयग्रस्त, खेदयुक्त और कृतघ्न मनुष्योंके मनका।

कः साधुः सद्वृत्तः कमधममाचक्षते त्वसद्वृत्तम्।
केन जितं जगदेतत्सत्यतितिक्षावता पुंसा ॥१८॥

प्रः-- साधु कौन है ? उः--सदाचारी।

प्रः-अधम (नीच) किसको कहते हैं ? उः--दुराचारीको।

प्रः--इस जगत् को किसने जीत लिया है ?

उः--सत्यतत्त्वमें निष्ठा रखनेवाला तितिक्षु (सहनशील) पुरुषने ।

कस्मै नमांसि देवाः कुर्वन्ति दयाप्रधानाय ।
कस्मादुद्वेगः स्यात्संसारारण्यतः सुधियः ॥१९॥

प्रः--देवता भी किसको नमस्कार करते हैं ?

उः--जिसके हृदयमें विशेषरूपसे दया रहती है, उसको ।

प्रः--बुद्धिमान् विवेकीको किससे उद्वेग (भय) होता है ?

उः--संसाररूपी जंगलसे ।

कस्य वशे प्राणिगणः सत्यप्रियभाषिणो विनीतस्य ।
क्व स्थातव्यं न्याय्ये पथि दृष्टादृष्टलाभाढ्ये ॥२०॥

प्रः--तमाम प्राणियोंका समुदाय किसके वशमें हो जाता है ।

उः--सत्य एवं प्रियभाषी, विनयशील महापुरुषके ।

प्रः--कहाँ रहना चाहिये ?

उः--दृष्टलाभ (कीर्ति आदि) एवं अदृष्टलाभ (परमधाम प्राप्ति आदि) से युक्त, न्याय (धर्म) के मार्गमें ।

कोऽन्धो योऽकार्यरतः को बधिरो यो हितानि न शृणोति ।
को मूको यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति ॥२१॥

प्रः--अन्धा कौन है ? उः--पापकर्ममें प्रीति करनेवाला ।

प्रः--बहिरा कौन है ? उः--जो हितकर वचनोंको नहीं सुनता है ।

प्रः--मूक कौन है ?

उः--जो समयपर प्रिय-भाषण करना नहीं जानता है ।

किं दानमनाकांक्षं किं मित्रं यो निवारयति पापात् ।
कोऽलंकारः शीलं किं वाचां मण्डनं सत्यम् ॥२२॥

प्रः--दान क्या है ? उः--जिसमें प्रत्युपकारकी आकांक्षा न हो ।
प्रः--मित्र कौन है ? उः--जो पाप-कर्मसे रक्षा करे ।
प्रः--अलंकार क्या है ? उः--शील (सरल निष्कपट स्वभाव)
प्रः--वाणीका भूषण क्या है ? उः--सत्य-भाषण ।

विद्युद्विलसितचपलं किं दुर्जनसंगतिर्युवतयश्च ।
कुलशीलनिष्प्रकंपाः के कलिकालेऽपि सज्जना एव ॥२३॥

प्रः--बिजलीके समान चपल क्या है ?
उः--दुष्टोंकी संगति और युवती स्त्रियाँ ।
प्रः--घोर कलिकालमें भी कुलसे एवं शीलसे सदा अचल कौन है ?
उः--सज्जन महापुरुष ।

चिन्तामणिरिव दुर्लभमिह किं कथयामि तच्चतुर्भद्रम् ।
किं तद्वदन्ति भूयो विधूततमसो विशेषेण ॥२४॥
दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागसमेतं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥२५॥

प्रः--चिन्तामणिके समान, इस लोकमें दुर्लभ क्या है ?
उः--चतुर्भद्र ।
प्रः--अज्ञानसे रहित विद्वान् लोग विशेषरूपसे चतुर्भद्र किसको कहते हैं ?
उः--(१) प्रियवाणी सहित दान (२) गर्वसे रहित ज्ञान (३) क्षमासे

युक्त शौर्य (४) त्यागसे युक्त धन, इन चारोंको कल्याणके साधन होनेसे चतुर्भद्र कहते हैं।

किं शोच्यं कार्पण्यं सति विभवे किं प्रशस्तमौदार्यम्।
कः पूज्यो विद्वद्भिः स्वभावतः सर्वदा विनीतो यः ॥२६॥

प्रः--शोक करने योग्य कौन है?

उः--वैभव होने पर भी कृपणता।

प्रः--प्रशंसा करने योग्य कौन है? उः--उदारता।

प्रः--विद्वानों से भी पूजा करने योग्य कौन है?

उः--जो स्वभावसे सर्वदा विनयशील है।

कः कुलकमलदिनेशः सति गुणविभवेऽपि यो नम्रः।
कस्य वशे जगदेतत्प्रियहितवचनस्य धर्मनिरतस्य ॥२७॥

प्रः--कुलरूपी कमलको सूर्यके समान प्रफुल्लित करनेवाला कौन है?

उः--विद्या, दया, आदि दैवीगुणरूपी विभव होनेपर भी जो नम्र है।

प्रः--यह समस्त जगत् किसके वशमें है?

उः--जो धर्ममें प्रेम करता है और प्रिय एवं हितकर वाणी बोलता है, उसके।

विद्वन्मनोहरा का सत्कविता बोधवनिता च।
कं न स्पृशति विपत्तिः प्रवृद्धवचनानुवर्तिनं दान्तम् ॥२८॥

प्रः--विद्वानोंके भी मनको हरन करनेवाली कौन है?

उः--बोधप्रद, ईश्वरमहिमा युक्त, सच्ची कविता और ब्रह्मविद्यारूपी वनिता (स्त्री)।

प्रः—विपत्ति किसको स्पर्श नहीं करती है ?

उः—जो जितेन्द्रिय है यानी संयमी है, और ज्ञानवृद्ध धर्मवृद्ध आदि महापुरुषोंके उपदेशोंके अनुसार चलनेवाला है, उसको ।

कस्मै स्पृहयति कमला त्वनलसचित्ताय नीतिवृत्ताय ।
त्यजति च कं सहसा द्विजगुरुसुरनिन्दाकरं च सालस्यम् ॥२९॥

प्रः—लक्ष्मी किसकी स्पृहा (इच्छा) करती है ?

उः—जिसके चित्तमें आलस नहीं है और जो नीतिसे युक्त है, उसकी।

प्रः—लक्ष्मी सहसा किसको छोड़ देती है ।

उः—जो आलसी है और ब्राह्मण, गुरु तथा देवताओंकी निन्दा करता है उसको ।

कुत्र विधेयो वासः सज्जननिकटेऽथवा काश्याम् ।
कः परिहार्यो देशः पिशुनयुतो लुब्धभूपश्च ॥३०॥

प्रः— कहाँ निवास करना चाहिये ?

उः— सज्जन महापुरुषोंके समीपमें अथवा श्रीकाशीधाममें ।

प्रः—किस देशको छोड़ देना चाहिये ?

उः—जो पिशुन (चुगलखोर) से युक्त एवं लोभी-कृपण राजासे युक्त देश है, उसको ।

केनाशोच्यः पुरुषः प्रणतकलत्रेण धीरविभवेन ।
इह भुवने कः शोच्यः सत्यपि विभवे न यो दाता ॥३१॥

प्रः--किससे मनुष्य शोक रहित होता है ?

उः--नम्र-सरल सती स्त्रीसे और अच्छे मार्गमें जानेवाले वैभवसे ।

प्र:--इस भुवनमें शोचनीय कौन है ?

उ:--वैभव होनेपर भी जो दान नहीं करता है, वह ।

किं लघुतायाः मूलं प्राकृतपुरुषेषु या याञ्चा ।
रामादपि कः शूरः स्मरशरनिहतो न यश्चलति ॥३२॥

प्र:--छोटेपन की जड़ क्या है ?

उ:--विषयी-पामर मनुष्योंसे याचना करना ।

प्र:--भगवान् रामसे भी महाशूरवीर कौन है ?

उ:--जो कामदेवके बाणसे ताड़ित होनेपर भी चलायमान न हो ।

किमहर्निशमनुचिन्त्यं भगवच्चरणं न संसारः ।
चक्षुष्मन्तोऽप्यन्धाः के स्युर्ये नास्तिका मनुजाः ॥३३॥

प्र:--दिनरात किसकी चिन्ता करनी चाहिये ?

उ:--भगवान् के परम पावन चरण-कमलोंकी ।

प्र:--किसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ? उ:--संसारकी ।

प्र:--चक्षु होनेपर भी अन्धे कौन हैं ?

प्र:--जो नास्तिक (ईश्वर, वेद एवं परलोकमें विश्वास नहीं करनेवाले) मनुष्य हैं, वे ।

कः पंगुरिह प्रथितो व्रजति न यो वार्धके तीर्थम् ।
किं तीर्थमपि च मुख्यं चित्तमलं यन्निवारयति ॥३४॥

प्र:--इस संसारमें पंगु कौन प्रसिद्ध है ?

उ:--जो वृद्ध होनेपर भी काशी आदि स्थावर तीर्थ, और सन्त-महात्मारूपी जंगम तीर्थमें पाप-निवृत्ति के लिये नहीं जाता है ।

प्रः—मुख्य तीर्थ कौन है ?

उः—जो चित्तके पापको निवारण करे, वह ।

किं स्मर्तव्यं पुरुषैर्हरिनाम सदा न यावनी भाषा ।
को हि न वाच्यः सुधिया परदोषश्चानृतं तद्वत् ॥३५॥

प्रः—मनुष्योंको हरदम किसका स्मरण करना चाहिये ?

उः—श्रीहरिके नामका ।

प्रः—किसका स्मरण नहीं करना चाहिये ?

उः—यवनोंकी (उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि) भाषाका ।

प्रः—बुद्धिमान् मनुष्यको क्या नहीं कहना चाहिये ?

उः—दूसरोंका दोष और अनृत (झूठी भाषा) ।

किं संपाद्यं मनुजैर्विद्या वित्तं बलं यशः पुण्यम् ।
कः सर्वगुणविनाशी लोभः शत्रुश्च कः कामः ॥३६॥

प्रः—मनुष्योंको क्या सम्पादन करना चाहिये ?

उः—विद्या, धन, बल, कीर्ति और पुण्य ।

प्रः—सर्व गुणोंके विनाश करनेवाला कौन है ? उः—लोभ ।

प्रः—शत्रु कौन है ? उः—काम ।

का च सभा परिहार्या हीना या वृद्धसचिवेन ।
इह कुत्रावहितः स्यान्मनुजः किल राजसेवायाम् ॥३७॥

प्रः—किस सभाका त्याग करना चाहिये ?

उः—जो धर्मवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध मन्त्रीसे रहित सभा है, उसका ।

प्रः—मनुष्यको कहाँ विशेषरूपसे सावधानी रखनी चाहिये ।

उः—धार्मिक राजाकी सेवामें ।

प्राणादपि को रम्यः कुलधर्मः साधुसंगश्च ।
का संरक्ष्या कीर्तिः पतिव्रता नैजबुद्धिश्च ॥३८॥

प्रः—प्राणसे भी अत्यन्त प्यारा कौन है ?

उः—कुलका धर्म और साधु पुरुषोंकी संगति ।

प्रः—अति प्रयत्नसे कौन रक्षा करने योग्य है ?

उः—कीर्ति, पतिव्रता स्त्री और अपनी बुद्धि ।

का कल्पलता लोके सच्छिष्यायार्पिता विद्या ।
कोऽक्षयवटवृक्षः स्याद्विधिवत्सत्पात्रदत्तदानं यत् ॥३९॥

प्रः—इस लोकमें कल्पलता क्या है ?

उः—योग्य शिष्यको दी हुई विद्या ।

प्रः—अक्षयवट वृक्ष क्या है ?

उः—विधिपूर्वक सत्पात्रको दिया हुआ दान ।

किं शस्त्रं सर्वेषां युक्तिर्माता च का धेनुः ।
किं नु बलं यद्धैर्यं को मृत्युर्यदवधानरहितत्वम् ॥४०॥

प्रः—सभीके लिये शस्त्र क्या है ? उः—युक्ति ।

प्रः—माता क्या है ? उः—गाय ।

प्रः—बल क्या है ? उः—धैर्य ।

प्रः—मृत्यु क्या है ? उः—सावधानीसे नहीं रहना ।

कुत्र विषं दुष्टजने किमिहाशौचं भवेदृणं नृणाम् ।
किमभयमिह वैराग्यं भयमपि किं वित्तमेव सर्वेषाम् ॥४१॥

प्रः--विष कहाँ है ? उः--दुष्ट मनुष्यमें ।

प्रः--मनुष्योंको अशौच क्या है ? उः--ऋण ।

प्रः--संसारमें अभय क्या है ? उः--वैराग्य ।

प्रः--सबके लिये भय क्या है ? उः--धन ।

का दुर्लभा नराणां हरिभक्तिः पातकं च किं हिंसा ।
को हि भगवत्प्रियः स्याद्योऽन्यं नोद्वेजयेदनुद्विग्नः ॥४२॥

प्रः--मनुष्योंको दुर्लभ क्या है ? उः--श्रीहरिकी भक्ति ।

प्रः--पाप क्या है ? उः--मनसे वाणीसे एवं शरीरसे होनेवाली हिंसा ।

प्रः--भगवान् को प्रिय कौन है ?

उः--जो स्वयं उद्वेगसे रहित है, और अन्यको कदापि उद्विग्न करता नहीं है, वह ।

कस्मात्सिद्धिस्तपसो बुद्धिः क्व नु भूसुरे कुतो बुद्धिः ।
वृद्धोपसेवया के वृद्धा ये धर्मतत्त्वज्ञाः ॥४३॥

प्रः--किससे सिद्धि होती है ? उः--तपसे ।

प्रः--बुद्धि कहाँ है ? उः--भूदेव-ब्राह्मणमें ।

प्रः--बुद्धि किससे प्राप्त होती है ? उः--वृद्धोंकी सेवासे ।

प्रः--वृद्ध कौन हैं ? उः--जो धर्म-तत्त्वको जाननेवाले हैं ।

संभावितस्य मरणादधिकं किं दुर्यशो भवति ।
लोके सुखी भवेत्को धनवान्धनमपि च किं यतचेष्टम् ॥४४॥

प्रः--संभावित (प्रसिद्ध) मनुष्यको मरणसे भी अधिक दुःखदायक क्या है ? उः--अपयश ।

प्रः—लोकमें लोकदृष्टिसे सुखी कौन है ? उः—धनवान् ।

प्रः—धन क्या है ? उः—संयमपूर्वक आहार-विहार यानी सदाचार ।

सर्वसुखानां बीजं किं पुण्यं दुःखमपि कुतः पापात् ।
कस्यैश्वर्यं यः किल शङ्करमाराधयेद्भक्त्या ॥४५॥

प्रः—तमाम सुखोंकी जड़ क्या है ? उः—पुण्य ।

प्रः—दुःख किससे होता है ? उः—पापसे ।

प्रः—ऐश्वर्य किससे होता है ?

उः—भगवान् श्रीशंकरकी विशुद्ध भक्तिपूर्वक आराधना करनेसे ।

को वर्धते विनीतः को वा हीयते यो दृप्तः ।
को न प्रत्येतव्यो ब्रूते यश्चानृतं शश्वत् ॥४६॥

प्रः—कौन सभी प्रकारसे बढ़ता है ? उः—विनयशील ।

प्रः—कौन सर्व तरफसे घटता है ? उः—अभिमानी ।

प्रः—किसका विश्वास नहीं करना चाहिये ?

उः—जो निरन्तर अनृत भाषण करता है ।

कुत्रानृतेऽप्यपापं यच्चोक्तं धर्मरक्षार्थम् ।
को धर्मोऽभिमतो यः शिष्टानां निजकुलीनानाम् ॥४७॥

प्रः—किस जगह अनृत कहनेपर भी पाप नहीं होता है ?

उः—जहाँ धर्मकी रक्षा होती हो, वहाँ ।

प्रः—धर्म कौन है ?

उः—जो निजकुलमें होनेवाले सदाचारी वृद्ध पुरुषोंके अभिमत हो ।

साधुबलं किं दैवं कः साधुः सर्वदा तुष्टः।
दैवं किं यत्सुकृतं कः सुकृती श्लाघ्यते च यः सद्भिः ॥४८॥

प्रः--साधु-महात्माओंका बल क्या है ? उः--आराधित देवता।

प्रः--साधु कौन है ? उः--जो सर्वदा सन्तुष्ट हो।

प्रः--दैव क्या है ?

उः--धर्म, भक्ति, वैराग्य, ज्ञान आज्ञासे होनेवाला पुण्य।

प्रः--पुण्यशाली कौन है ?

उः--जिसकी सत्पुरुष भी प्रशंसा करते हो वह।

गृहमेधिनश्च मित्रं किं भार्या को गृही च यो यजते।
को यज्ञो यः श्रुत्या विहितः श्रेयस्करो नृणाम् ॥४९॥

प्रः--गृहस्थका असली मित्र कौन है ? उः--भार्या।

प्रः--गृहस्थ कौन है ?

उः--जो पञ्चमहायज्ञके द्वारा विश्वरूप भगवान्‌का यजन करता है।

प्रः--यज्ञ कौन है ?

उः--जो वेदने विधान किया हो, और अनुष्ठानसे मनुष्योंका श्रेयः (कल्याण) करनेवाला हो, वह।

कस्य क्रिया हि सफला यः पुनराचारवान् शिष्टः।
कः शिष्टो यो वेदप्रमाणवान्को हतः क्रियाभ्रष्टः ॥५०॥

प्रः--किसकी क्रिया फलवाली होती है ?

उः--जो सदाचारी विचारशील शिष्ट है, उसकी।

प्रः--शिष्ट कौन है ?

उः—जो वेदको परम प्रामाणिक मानकर वैदिक उपदेशको अपने आचरणमें रखता है, वह ।

प्रः—मरा हुआ कौन है ? उः—जो क्रिया (सदाचार) से भ्रष्ट है ।

को धन्यः संन्यासी को मान्यः पण्डितः साधुः ।
कः सेव्यो यो दाता को दाता योऽर्थितृप्तिमातनुते ॥५१॥

प्रः—धन्य कौन है ? उः—संन्यासी ।

प्रः—मान्य कौन है ? उः—सदाचारी विद्वान् ।

प्रः—सेव्य कौन है ? उः—दाता (दानशील) ।

प्रः—दाता कौन है ? उः—अर्थीको जो तृप्त करता है, वह ।

किं भाग्यं देहवतामारोग्यं कः फली कृषिकृत् ।
कस्य न पापं जपतः कः पूर्णो यः प्रजावान्स्यात् ॥५२॥

प्रः—देहधारियोंका भाग्य क्या है ? उः—आरोग्य ।

प्रः—फलवाला कौन है ? उः—किसान (खेती करनेवाला)

प्रः—किसको पाप स्पर्श नहीं करता है ?

उः—जो भगवन्मन्त्रको जपता रहता है, उसको ।

प्रः—पूर्ण कौन है ? उः—जो प्रजावाला है, वह ।

किं दुष्करं नराणां यन्मनसो निग्रहः सततम् ।
को ब्रह्मचर्यवान्स्याद्यश्चास्खलितोर्ध्वरेतस्कः ॥५३॥

प्रः—मनुष्योंके लिये दुष्कर क्या है ?

उः—निरन्तर मनको स्वाधीन रखना ।

प्रः—ब्रह्मचारी कौन है ?

उः—जिसका वीर्य कदाचित् स्खलित न-हो, किन्तु उर्ध्व-मस्तिष्कमें विशेषरूपसे वीर्यका धारण हो, वह ।

का च परदेवतोक्ता चिच्छक्तिः को जगद्भर्ता ।
सूर्यः सर्वेषां को जीवनहेतुः स पर्जन्यः ॥५४॥

प्रः—परदेवता कौन है ? उः—सर्वव्यापिनी चेतन-शक्ति ।

प्रः—जगत् का भर्ता कौन है ? उः—सूर्य-भगवान् ।

प्रः--सभीके जीवनका हेतु कौन है ? उः--पर्जन्य (बारस)--वृष्टि ।

कः शूरो यो भीतत्राता त्राता च कः स गुरुः ।
को हि जगद्गुरुः शम्भुर्ज्ञानं कुतः शिवादेव ॥५५॥

प्रः--शूर कौन है ? उः—भयभीत मनुष्यकी रक्षा करनेवाला ।

प्रः--रक्षक कौन है ? उः—गुरु ।

प्रः—जगद्गुरु कौन है ? उः--श्रीशङ्कर महादेव ।

प्रः--ज्ञान किससे होता है ?

उः--जगद्गुरु श्रीशिवजी महाराजकी कृपासे ।

मुक्तिं लभेत कस्मान्मुकुन्दभक्तेर्मुकुन्दः कः ।
यस्तारयेदविद्यां का चाविद्या यदात्मनोऽस्फूर्तिः ॥५६॥

प्रः--किससे मुक्ति प्राप्त होती है ? उः--मुकुन्द भगवान् की भक्तिसे ।

प्रः—मुकुन्द कौन है ? उः--जो अविद्यासे तार देवे ।

प्रः—अविद्या क्या है ?

उः—आत्माके यथार्थ स्वरूपका भान न होना ।

कस्य न शोको यः स्यादकामः किं सुखं तुष्टिः ।
को राजा रंजनकृत्कश्च श्वा नीचसेवको यः स्यात् ॥५७॥

प्रः--शोक किसको नहीं होता है ? उः--जो कामनाओंसे रहित है ।

प्रः--सुख क्या है ? उः--संतोष ।

प्रः--राजा कौन है ?

उः--जो अपनी प्रजाका लालन-पालनद्वारा रञ्जन (हर्ष) करनेवाला हो ।

प्रः--कुत्ता कौन है ? उः--जो नीच-पामरका सेवक है ।

को मायी परमेशः क इन्द्रजालायते प्रपञ्चोऽयम् ।
कः स्वप्ननिभो जाग्रद्व्यवहारः सत्यमपि च किं ब्रह्म ॥५८॥

प्रः--मायावाला कौन है ? उः--परमेश्वर ।

प्रः--इन्द्रजालके समान मिथ्या कौन है ?

उः--यह नामरूपात्मक द्वैतप्रपञ्च ।

प्रः--स्वप्नके समान क्षणभङ्गुर क्या है ?

उः--जाग्रत् संसारका व्यवहार ।

प्रः--सत्य (तीन कालमें भी अबाधित) क्या है ?

उः--ब्रह्म (सर्वव्यापक आत्मा) ।

किं मिथ्या यद्विद्याविनाश्यं तुच्छं तु शशविषाणादि ।
का चानिर्वचनीया माया किं कल्पितं द्वैतम् ॥५९॥

प्रः--मिथ्या क्या है ? उः--जिसका ब्रह्मविद्यासे विनाश हो, वह ।

प्रः--तुच्छ क्या है ? उः--शशश्रृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, आदि ।

प्रः--अनिर्बचनीय क्या है ? उः--माया और मायाका कार्य संसार ।

प्रः--कल्पित (अध्यस्त) क्या है ? उः--द्वैत-प्रपञ्च ।

किं पारमार्थिकं स्यादद्वैतं चाविद्या कुतोऽनादिः ।
वपुषश्च पोषकं किं प्रारब्धं चान्नदायि किमायुः ॥६०॥

प्रः--परमार्थिक तत्त्व क्या है ? उः--अद्वैत-ब्रह्म ।

प्रः--अविद्या किससे हुई ? उः--किसीसे भी नहीं, क्योंकि वह अनादि है, उसका आदि (कारण) कोई नहीं बतला सकता, परन्तु उसकी अनादि-कल्पनाका अधिष्ठान ब्रह्म है ।

प्रः--शरीरको पोषण करनेवाला कौन है ? उः--प्रारब्ध-कर्म ।

प्रः--अन्न देनेवाला कौन है ? उः--आयु ।

को ब्राह्मणैरुपास्यो गायत्र्यर्काग्निगोचरः शम्भुः ।
गायत्र्यामादित्ये चाग्नौ शम्भौ च किं नु तत्तत्त्वम् ॥६१॥

प्रः--ब्राह्मणोंसे उपासना करने योग्य कौन है ?

उः--गायत्री, सूर्य और अग्निके अधिष्ठाता भगवान् श्रीशङ्कर ।

प्रः--गायत्रीमें, सूर्यमें अग्निमें और श्रीशङ्करमें कौन तत्त्व है ?

उः--वही सर्वव्यापक अद्वैत-ब्रह्म ।

प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तातः ।
कः सर्वदेवतात्मा विद्याकर्मान्वितो विप्रः ॥६२॥

प्रः--प्रत्यक्ष देवता कौन है ? उः--माता ।

प्रः--पूज्य गुरु कौन है ? उः--पिता ।

प्रः--सर्व देवतास्वरूप कौन है ?

उः--ज्ञान (उपासना) और वैदिक-विहित-शुभ कर्मसे युक्त ब्राह्मण ।

कश्च कुलक्षयहेतुः संतापः सज्जनेषु योऽकारि ।
केषाममोघवचनं ये च पुनः सत्यमौनशमशीलाः ॥६३॥

प्रः--कुलक्षयका क्या कारण है ?

उः--सज्जन महात्माओंको पहुँचाया हुआ कष्ट ।

प्रः—किनका अमोघ (यथार्थ) वचन है ?

उः--जो सत्य, मौन, एवं शम (मनका निग्रह) के स्वभाववाले हैं ।

किं जन्म विषयसंगः किमुत्तरं ब्रह्मबोधः स्यात् ।
कोऽपरिहार्यो मृत्युः कुत्र पदं विन्यसेच्च दृक्पूते ॥६४॥

प्रः--जन्म क्यों होता है ? उः—विषयासक्ति होनेसे ।

प्रः—जन्मसे तरना यानी मुक्ति कैसे हो ? उः--ब्रह्मज्ञानसे ।

प्रः—अपरिहार्य कौन है ? उः--मृत्यु (कालदेवता) ।

प्रः—पाद (पैर) कहाँ रखना चाहिये ?

उः—दृष्टिसे पवित्र किये हुए मार्गमें ।

पात्रं किमन्नदाने क्षुधितं कोऽर्च्यो हि भगवदवतारः ।
कश्च भगवान्महेशः शङ्कर-नारायणात्मैकः ॥६५॥

प्रः—अन्नदानका पात्र (अधिकारी) कौन है ?

उः—जो क्षुधित (भूखा) हो ।

प्रः--अर्चा (पूजा) करने योग्य कौन है ?

उः—भगवदवतार श्रीराम—कृष्णादि ।

प्रः—भगवान् महेश्वर कौन है ?

उः—श्रीशङ्कर और श्रीनारायणका अभिन्नस्वरूप ।

फलमपि भगवद्भक्तेः किं तद्देवस्वरूपसाक्षात्त्वम् ।
मोक्षश्च को ह्यविद्यास्तमयः कः सर्ववेदभूरथ चोम् ॥६६॥

प्र:--भगवद्भक्तिका फल क्या है ? उ:--भगवान्के स्वरूपका साक्षात्कार।
प्र:--मोक्ष क्या है ? उ:--अविद्याका अत्यन्ताभाव ।
प्र:--सर्ववेदोंका सार क्या है ? उ:--ॐकार ।

इत्येषा कण्ठस्था प्रश्नोत्तररत्नमालिका येषाम् ।
ते मुक्ताभरणा इव विमलाश्चाभान्ति सत्समाजेषु ॥६७॥

यह प्रश्नोत्तररत्नमालिका जिनके कण्ठमें स्थित है, वे मुक्ताके आभूषण की तरह सत्पुरुषोंके समाजमें निर्मल होकर प्रकाशित होवेंगे।

॥ इति प्रश्नोत्तररत्नमालिका ॥

विज्ञान-नौका

(भुजङ्गप्रयात-छन्द)

तपोयज्ञदानादिभिः शुद्धबुद्धि-विरक्तो नृपादौ पदे तुच्छबुद्ध्या ।
परित्यज्य सर्वं यदाप्नोति तत्त्वं, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ १ ॥

तप, यज्ञ, दान आदि शुभकर्मसे जिसका अन्तःकरण मल-रहित शुद्ध हुआ है, सांसारिक दृष्टिसे जो सर्वोत्तम है, ऐसे राजा-सम्राट् आदिके ऐश्वर्यसे भी जो सुतरां विरक्त है; यानी ऐसे ऐश्वर्यमें भी जिसकी तुच्छ-बुद्धि है। ऐसा अधिकारी-मुमुक्षु, देहादि अनात्म-वर्गका परित्यागकर जिस तत्त्वको प्राप्त कर लेता है, वह परब्रह्म नित्य-तत्त्व मैं ही हूँ ।

दयालुं गुरुं ब्रह्मनिष्ठं प्रशान्तं, समाराध्य भक्त्या विचार्य स्वरूपम् ।
यदाप्नोति तत्त्वं निदिध्यास्य विद्वान्, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥२॥

दयालु, ब्रह्मनिष्ठ, प्रशान्त सद्गुरुकी भक्तिपूर्वक अच्छी प्रकार से आराधना करके शुद्ध आत्मस्वरूपका विचारकर एवं निदिध्यासन करके जिस सच्चिदानन्द-पूर्ण-सर्वात्म-निर्विकार-असंग शुद्ध-तत्त्वको विद्वान् प्राप्त होता है, वह परब्रह्म नित्य-तत्त्व मैं ही हूँ ।

यदानन्दरूपं प्रकाशस्वरूपं, निरस्तप्रपञ्चं परिच्छेदशून्यम् ।
अहं ब्रह्मवृत्त्यैकगम्यं तुरीयं, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ३ ॥

जो विशुद्ध-अखण्ड आनन्दस्वरूप है, स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप है, नामरूपात्मक द्वैतप्रपञ्चका जिसमें अत्यन्ताभाव है, जो देश काल वस्तुकृत परिच्छेदसे रहित है, यानी जो सर्वव्यापक त्रिकाला-बाध्य सर्वात्म वस्तु है, 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस महावाक्य-जन्य अखण्ड ब्रह्माकार वृत्तिसे जो जानने योग्य है, एवं जो जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंका साक्षी-द्रष्टा चेतनतत्त्व है, वह परब्रह्म नित्यतत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैत-पूर्ण-आत्मा मैं हूँ ।

यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं, विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे ।
मनोवागतीतं विशुद्धं विमुक्तं, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ४ ॥

जिस परब्रह्म-तत्त्वके अज्ञानसे, यानी अघटघटनापटीयसी अनिर्वचनीय विचित्र मायाशक्तिसे यह नामरूपात्मक समस्त द्वैतप्रपञ्च भासता है, जिस ब्रह्मात्मस्वरूपके साक्षात्कारसे यह द्वैतप्रपञ्च अज्ञान सहित शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जो तत्त्व मन-वाणीका

अगोचर यानी अविषय है, अत्यन्त शुद्ध एवं नित्य-मुक्त है, वह परब्रह्म नित्यतत्त्व मैं ही हूँ।

निषेधे कृते नेतिनेतीति वाक्यैः, समाधिस्थितानां यदाभाति पूर्णम्।
अवस्थात्रयातीतमेकं तुरीयम्, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ५ ॥

'नेति' 'नेति' यह नहीं, यह नहीं, अर्थात् जो मूर्त-प्रपञ्च नहीं है एवं अमूर्त-प्रपञ्चभी नहीं है, इस प्रकारके श्रुतिवाक्योंसे जिसमें तमाम द्वैतप्रपञ्चका निषेध करनेपर, जो परिपूर्ण अखण्ड आनन्दात्म स्वरूप निर्विकल्प समाधिमें स्थित योगियोंको साक्षात् प्रकाशता है, जो तीनों अवस्थाओंसे अतीत, तुरीय-साक्षी है, वही नित्यतत्त्व परब्रह्म आनन्द निधि अद्वैत-पूर्णात्मा मैं हूँ।

यदानन्दलेशैः समानन्दि विश्वं, यदाभाति सत्त्वे तदाभाति सर्वम्।
यदालोचने रूपमन्यत्समस्तं, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ६ ॥

जो प्रशान्त आनन्द-महासागरके थोडेसे (बिन्दु-मात्र) आनन्दको लेकर यह समस्त विश्व कामादिजन्य तुच्छ आनन्दवाला होता है, देहादि अनात्मवर्गमें जब जिसकी सत्ता-स्फूर्ति आती है, तब ही सब सत्ता स्फूर्ति से दिखाई देते हैं। अन्य समस्त रूप, जिसके अखण्ड ज्ञानरूपी नेत्रसे भासित होते हैं, वही नित्यतत्त्व परब्रह्म मैं ही हूँ।

अनन्तं विभुं सर्वयोनिं निरीहं, शिवं संगहीनं यदोंकारगम्यम्।
निराकारमत्युज्ज्वलं मृत्युहीनम्, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ७ ॥

जो अनन्त (देशादि-अन्त रहित) विभु (व्यापक) सर्वका कारण, चेष्टारहित शिव (कल्याण) स्वरूप, असंग निर्विकार निर्लेप है, जो

ॐकारकी उपासनासे जानने योग्य है, जो निराकार अत्यन्त शुद्ध स्वयंप्रकाश मृत्युरहित है, वह परब्रह्म नित्यतत्त्व मैं ही हूँ।

यदानन्दसिन्धौ निमग्नः पुमान्स्या-दविद्याविलासः समस्तः प्रपञ्चः ।
तदा न स्फुरत्यद्भुतं यन्निमित्तं, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥८॥

जब अधिकारी (साधनचतुष्टय सम्पन्न) मनुष्य, अखण्डानन्द महासागररूप स्वस्वरूपमें निमग्न यानी तल्लीन होता है, तब अविद्यासे ही जिसका भान होता है, ऐसा समस्त द्वैत-प्रपञ्च उसे तीन कालमें भी नहीं भासता है, इस प्रकार जिसके ज्ञानका प्रभाव आश्चर्ययुक्त है, वही परब्रह्म नित्य-तत्त्व मैं हूँ।

स्वरूपानुसंधानरूपां स्तुतिं यः, पठेदादराद्भक्तिभावो मनुष्यः ।
शृणोतीह वा नित्यमुद्युक्तचित्तो, भवेद्विष्णुरत्रैव वेदप्रमाणात् ॥ ९ ॥

स्वस्वरूपका अनुसंधानरूप इस स्तुतिको जो मनुष्य, आदर पूर्वक पूर्ण भक्ति-भावसे पढ़ता है, अथवा दत्तचित्त होकर जो प्रतिदिन सुनता है, वह वेदके स्वतःनिर्दोष प्रमाणसे यहाँ ही जीवितावस्थामें ही विष्णुस्वरूप हो जाता है।

विज्ञाननावं परिगृह्य कश्चि—त्तरेद्यदज्ञानमयं भवाब्धिम् ।
ज्ञानासिना योहि विच्छिद्य तृष्णां, विष्णोः पदं याति स एव धन्यः ॥

(उपजातिवृत्तम्)

जो विज्ञानरूपी नौकाको ग्रहण करके, ज्ञानरूपी तलवारसे तृष्णाको काटकर अज्ञानरूपी संसारसमुद्रको तर जाता है और विष्णुके परम-पदको प्राप्त करता है, वही धन्य है।

॥ इति विज्ञान-नौका समाप्ता ॥

वैदिक--शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।१।।

[कृष्ण-यजुर्वेद-तैत्ति० -१।१।१]

ॐ मित्र (दिवसके अभिमानी देवता सूर्य-भगवान्) हमारे लिये सुख देनेवाला होवे । वरुण (रात्रिके अभिमानी देवता या जलके अधिष्ठातृ देवता) हमारे लिये सुख देनेवाला होवे । अर्यमा (पितरोंका अधिष्ठातृ देवता) हमारे लिये सुख देनेवाला होवे । इन्द्र (हाथ और बलका देवता देवराज) हमारे लिये सुख देनेवाला होवे । बृहस्पति (वाणी और बुद्धिका देवता) हमारे लिये सुख देनेवाला होवे । विस्तीर्णपाद-वाला विष्णु भगवान् हमारे लिये सुख देनेवाला होवे । ब्रह्मके लिये नमस्कार है । हे वायो ! आपको नमस्कार है । आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं । आपको ही मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । यथार्थ कहूँगा । सत्य कहूँगा । वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे । वह वेदवक्ता आचार्यकी रक्षा करे । मेरी रक्षा करे । आचार्य की रक्षा करे । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः, यानी आध्यात्मिक आधि-भौतिक एवं आधिदैविक ये तीन तापोंकी निवृत्ति हो ।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ २ ॥ (कृष्ण-यजुर्वेद-तैत्ति० २।१।१)

ॐ वह प्रसिद्ध परमेश्वर हम शिष्य और आचार्य दोनोंकी रक्षा करे। वह प्रसिद्ध परमेश्वर हम दोनोंको विद्याके फलका भोग करावे। हम दोनों मिलकर वीर्य यानी विद्याकी प्राप्तिके लिये सामर्थ्य प्राप्त करें। हम दोनोंका पढ़ा हुआ तेजस्वी होवे, हम दोनों परस्पर विद्वेष न करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव! धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ३ ॥ (कृष्ण-यजुर्वेद-तैत्ति० १।४।१)

ॐ जो ॐकार वैदिक-छन्दोंमें श्रेष्ठ है, सर्वरूप है, अमृतरूप वेदोंसे अधिक (आराधनीय) हुआ है। वह ॐकाररूप इन्द्र भगवान् मुझको बुद्धिकी सूक्ष्मता एकाग्रता एवं निर्मलतारूपी सामर्थ्य देवे। हे देव! मैं अमृत (परब्रह्म) का धारण करनेवाला होऊँ। मेरा शरीर रोग-रहित स्वस्थ रहे। मेरी जिह्वा मधुरभाषिणी हो, कानोंसे मैं बहुतभद्र सुनूँ। आप (ॐकार) ब्रह्मके कोश हैं यानी आपकी आराधनासे ही ब्रह्म प्रकट होता है, इसलिये आपके भीतर ब्रह्म छिपा है। लौकिक बुद्धिसे आप ढके हुए हैं। जो कुछ मैंने सुना है, उसकी रक्षा कीजिये। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिव । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ४ ॥

(कृष्ण-यजुर्वेद-तैत्ति० १।१०।१)

ॐ मैं संसाररूप वृक्षका काटनेवाला हूँ। मेरी कीर्ति (महिमा) पर्वतके शिखरके समान अत्युन्नत है। मैं सूर्यके समान अत्यन्त पवित्र और शुद्ध अमृत हूँ। प्रकाश सहित बल हूँ। सुन्दर-विशुद्ध बुद्धिवाला, अमृत और नाशरहित हूँ। ये वचन, वेदके जाननेके पश्चात् त्रिशङ्कुके कहे हुए हैं। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ५ ॥ (शुक्ल यजुर्वेद ईश० बृहदारण्यक)

ॐ वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकलता है, पूर्णसे पूर्ण लेकर पूर्ण ही परिशिष्ट रहता है। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च। सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकणं मे अस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ६ ॥

(सामवेद केन-छान्दोग्य-उपनिषद्)

ॐ मेरे अंग वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, बल और सर्व इन्द्रियाँ वृद्धिको प्राप्त हों। सब ब्रह्मरूप उपनिषद् हैं। मैं ब्रह्मका तिरस्कार

न करूँ, यानी ब्रह्मसे मैं विमुख न होऊँ। ब्रह्म मेरा तिरस्कार न करे, यानी हम दोनोंका परस्पर विशुद्ध प्रेम हो। ब्रह्मात्मामें निरन्तर प्रेम करनेवाले महापुरुषोंमें एवं उपनिषदों (वेदान्तों) में प्रख्यात जो शम दमादि धर्म हैं, वे मुझमें होवें। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ ७॥ (ऋग्वेद-ऐतरेय-उपनिषत्)

ॐ मेरी वाणी मनमें प्रतिष्ठित हो, मेरा मन वाणीमें प्रतिष्ठित हो। हे स्वप्रकाश ब्रह्म चैतन्यात्मन्! अविद्या दूर करनेके लिये आप मुझमें प्रकट हो जाइये। वेदका यथार्थ तत्त्व मेरे लिये लाइये। मेरा सुना हुआ मुझे न छोड़े। इस पढ़े हुएको मैं दिन-रात धारण करूँ। परमार्थमें सत्य बोलूँ, व्यवहारमें भी सत्य बोलूँ। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, वह आचार्यकी रक्षा करे, रक्षा करे मेरी। रक्षा करे आचार्यकी, रक्षा करे आचार्यकी। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐभद्रं नो अपिवातय मनः॥ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥८॥

ॐ हमारा कल्याण हो, मन पवित्र कीजिये। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति

न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ९ ॥ (अथर्ववेद-प्रश्न-उपनिषत्)

ॐ हे देवो ! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें । ध्यान करनेवाले हम नेत्रोंसे कल्याणरूप देखें । स्थिर, हस्तपादादि अङ्गोंके द्वारा सूक्ष्म रहस्यवाली श्रुतियोंसे उस परब्रह्म-परमात्माकी हम स्तुति करें । हे देवो ! आयुभर हम कल्याणरूप शिवको ही धारण करें । महान् कीर्तिवाला इन्द्र हमको आनन्द देवे । समस्त विश्वका जाननेवाला सूर्य हमको आनन्द देवे । अप्रतिहतगतिवाला गरुड़ हमको आनन्द देवे । बृहस्पति हमको आनन्द देवे । ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१०॥ (यजुर्वेद० श्वेताश्वतर-उपनिषत्० ६।१८)

ॐ जो परब्रह्म परमात्मा पूर्वमें ही आद्यशरीरी ब्रह्माको धारण करता है । और जो उसके लिये ऋगादि वेदोंको प्रकाशित करता है। आत्मबुद्धिके प्रकाशक उस प्रसिद्ध देवकी शरणमें मैं मुमुक्षु जाता हूँ । ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

॥ इति वैदिक-शान्तिपाठ ॥

ब्रह्मज्ञानावली-माला

सकृच्छ्रवणमात्रेण, ब्रह्मज्ञानं यतो भवेत् ।
ब्रह्मज्ञानावलीमाला, सर्वेषां मोक्षसिद्धये ॥ १ ॥
असंगोऽहमसंगोऽहमसंगोऽहं पुनः पुनः ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥ २ ॥
नित्यशुद्धविमुक्तोऽहं निराकारोऽहमव्ययः ।
भूमानन्दस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥ ३ ॥
नित्योऽहं निरवद्योऽहं निराकारोऽहमच्युतः ।
परमानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥ ४ ॥
शुद्धचैतन्यरूपोऽहमात्मारामोऽहमेव च ।
अखण्डानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥ ५ ॥
प्रत्यक्चैतन्यरूपोऽहं शान्तोऽहं प्रकृतेः परः ।
शाश्वतानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥ ६ ॥
तत्त्वातीतः परात्माऽहं मध्यातीतः परः शिवः ।
मायातीतः परं ज्योतिरहमेवाहमव्ययः ॥ ७ ॥
नामरूपव्यतीतोऽहं चिदाकारोऽहमच्युतः ।
सुखबोधस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥ ८ ॥
मायातत्कार्यदेहादि मम नास्त्येव सर्वदा ।
स्वप्रकाशैकरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥ ९ ॥
गुणत्रयव्यतीतोऽहं ब्रह्मादीनां च साक्ष्यहम् ।
अनन्तानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१०॥

अन्तर्यामिस्वरूपोऽहं कूटस्थः सर्वगोऽस्म्यहम् ।
परमात्मस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥११॥
निष्कलोऽहं निष्क्रियोऽहं सर्वात्माद्यः सनातनः ।
अपरोक्षस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१२॥
द्वंद्वादिसाक्षिरूपोऽहमचलोऽहं सनातनः ।
सर्वसाक्षिस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१३॥
प्रज्ञानघन एवाहं विज्ञानघन एव च ।
अकर्ताहमभोक्ताहमहमेवाहमव्ययः ॥१४॥
निराधारस्वरूपोऽहं सर्वाधारोऽहमेव च ।
आप्तकामस्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥१५॥
तापत्रयविनिर्मुक्तो देहत्रयविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्ष्यस्मि चाहमेवाहमव्ययः ॥१६॥
दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्परविलक्षणौ ।
दृग्ब्रह्म दृश्यं मायेति सर्ववेदान्तडिण्डिमः ॥१७॥
अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैवं पुनः पुनः ।
स एव मुक्तः सो विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१८॥
घटकुड्यादिकं सर्वं मृत्तिकामात्रमेव च ।
तद्वद्ब्रह्म जगत्सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥१९॥
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः ।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥२०॥
अन्तर्ज्योति बहिर्ज्योतिः प्रत्यग्ज्योतिः परात्परः ।
ज्योति र्ज्योतिः स्वयंज्योतिरात्मज्योतिः शिवोऽस्म्यहम् ।२१।

प्रथम संस्करण—६०००

विशेष सूचना.

श्रीशङ्करदेशिकाष्टकम्

(श्रीमदाचार्य तोटकाचार्य विरचितम्)

विदिताखिलशास्त्रसुधाजलधे ! महितोपनिषत्कथितार्थनिधे ! ।
हृदये कलये विमलं चरणं भव शंकरदेशिक ! मे शरणम् ॥१॥

करुणावरुणालय ! पालय मां भवसागरदुःखविदूनहृदम् ।
रचिताखिलदर्शनतत्त्वविदं भव शंकरदेशिक ! मे शरणम् ॥२॥

भवता जनता सुखिता भविता निजबोधविचारणचारुमते ! ।
कलयेश्वरजीवविवेकविदं भव शंकरदेशिक ! मे शरणम् ॥३॥

भव एव भवानिति मे नितरां समजायत चेतसि कौतुकिता ।
मम वारय मोहमहाजलधि भव शंकरदेशिक ! मे शरणम् ॥४॥

सुकृतेऽधिकृते बहुधा भवतो भविता पददर्शनलालसता ।
अतिदीनमिमं परिपालय मां भव शंकरदेशिक ! मे शरणम्

जगतीमवितुं कलिताकृतयो विचरन्ति महामहसश्छलतः ।
अहिमांशुरिवात्र विभासि पुरो भव शंकरदेशिक ! मे शरणम् ॥६॥

गुरुपुंगव ! पुंगवकेतन ! ते समतामयतां न हि कोऽपि सुधीः ।
शरणागतवत्सल ! तत्त्वनिधे ! भव शंकरदेशिक ! मे शरणम् ॥७॥

विदिता न मया विशदैककला न च किंचन काञ्चनमस्ति गुरो ! ।
द्रुतमेव विधेहि कृपां सहजां भव शंकरदेशिक ! मे शरणम् ॥८॥

॥ इति श्रीशङ्करदेशिकाष्टकं समाप्तम् ॥